रामचन्द्र आर्य

बिहारी-सतसई-सार

बिहारी-सतसई-सार

[बिहारी सतसई के २०१ दोहों का प्रतिनिधि संकलन]

आलोचक तथा संकलनकर्ता
डॉ. रामस्वरूप आर्य
एम. ए., पी-एच. डी.
रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
वर्धमान कालेज, बिजनौर

●

डॉ. (श्रीमती) इन्दुमती सिंह
एम. ए., पी-एच. डी.
हिन्दी-विभाग, महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कल्पतरु प्रकाशन, कानपुर

प्रकाशक
कल्पतरु प्रकाशन, कानपुर

●

प्रमुख वितरक
शिक्षा प्रकाशन गृह
बड़ा बाजार, बरेली

मूल्य : छः रुपये मात्र

मुद्रक
जैनसंस प्रिन्टर्स
४/४५ तकिया वजीरशाह
सेठगली, आगरा-३

प्राक्कथन

रीतिकाल के कवियों में बिहारी का नाम अन्यतम है। उनकी 'सतसई' हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। अतः विश्वविद्यालय-स्तर पर उसका अध्ययन-अध्यापन होता रहा है। इधर पाठ्यक्रम में अधिक कवियों के समावेश के कारण निरन्तर यह अनुभव किया जाता रहा है कि कवियों के सम्पूर्ण ग्रन्थ न पढ़ाकर उनकी रचनाओं के प्रतिनिधि-संकलन पाठ्यक्रम में निर्धारित किये जायें। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत संकलन तैयार किया गया है।

बिहारी-सतसई में कुछ दोहे ऐसे भी हैं जो अश्लीलता की सीमा का स्पर्श करते हैं। इन्हें जानबूझकर इस संकलन में सम्मिलित नहीं किया गया है। साथ ही हमारा यह विनम्र प्रयास रहा है कि बिहारी के शृंगार, भक्ति, नीति एवं प्रकृति आदि विषयक सभी प्रकार के दोहों का इसमें प्रतिनिधित्व हो। रीतिकालीन प्रवृत्तियों एवं परम्पराओं की झलक भी पाठकों को इसमें मिलेगी।

दोहों का संकलन करते समय यह ध्यान रखा गया है कि एक विषय के दोहे एक ही स्थान पर रहें। बिहारी-सतसई के दोहों में अनेक पाठान्तर भी हो गये हैं। प्रस्तुत संकलन में अधिकांश में श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा निर्धारित पाठ अपनाया गया है। कुछ दोहों में लाला भगवानदीन के पाठ को प्रमुखता दी गई है।

संकलन के आरम्भ में कवि के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर संक्षिप्त समीक्षा दी गयी है, जो छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इसके लेखन में अनेक विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गयी है, जिनका उल्लेख यथास्थान किया गया है। हम इन सब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। समीक्षा में उद्धृत बिहारी-सतसई के दोहों की सन्दर्भ-संख्या 'बिहारी रत्नाकर' के आधार पर दी गयी है।

हमारा विश्वास है कि उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए प्रस्तुत संकलन उपयोगी सिद्ध होगा तथा विद्वज्जन इसे अपनाकर अनुगृहीत करेंगे।

—संकलनकर्ता

विषय-सूची

समीक्षा-खण्ड

१
बिहारी का जीवन-वृत्त

किसी भी कवि के जीवन-वृत्त की जानकारी के लिए हम उपलब्ध सामग्री को दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) अन्तर्साक्ष्य, एवं (२) बहिर्साक्ष्य। अन्तर्साक्ष्य के अन्तर्गत कवि के आत्मविषयक कथन आते हैं जिनसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उसके जीवन पर प्रकाश पड़ता है तथा बहिर्साक्ष्य के अन्तर्गत समसामयिक तथा परवर्ती विद्वानों के वे कथन आते हैं जिनमें कवि के विषय में कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। इनमें हम जनश्रुतियों तथा आधुनिक काल के उन विद्वानों के मतों को भी सम्मिलित कर सकते हैं जिन्होंने अपनी खोजों के आधार पर कवि के जीवन के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये हैं। बिहारी के जीवन-वृत्त विषयक तथ्यों के निरूपण में हम इन्हीं सूत्रों से प्राप्त सामग्री पर विचार करेंगे।

अन्तर्साक्ष्य—बिहारी का एकमात्र ग्रन्थ 'बिहारी-सतसई' है। इसमें कवि के जीवन-वृत्त विषयक अधिक प्रमाण नहीं मिलते। 'बिहारी-सतसई' के निम्नलिखित दोहे से ज्ञात होता है कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे तथा उनके पिता का नाम केशवराय था—

प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ ॥१०१॥

ये केशवराय हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि केशवदास थे अथवा कोई अन्य व्यक्ति, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह की है। बाबू राधाकृष्णदास ने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि बिहारी के पिता हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास थे। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने केशवदास को बिहारी का पिता न मानकर गुरु माना है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'महाकवि बिहारी का श्रृंगार-निरूपण' में अनेक तर्कों द्वारा प्रसिद्ध आचार्य कवि केशवदास को बिहारी का पिता सिद्ध किया है। इसमें उन्होंने कवि केशवदास का वंश-वृक्ष

भी दिया है जिसमें 'बिहारीदास' का उल्लेख केशवदास के पुत्र के रूप में हुआ है।[१]

'बिहारी-सतसई' की रचना कवि ने अपने आश्रयदाता राजा मिर्जा जयशाह की प्रेरणा से की थी—

हुकुमु पाइ जयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ॥७१३॥

निम्नलिखित दोहे में राजा जयसिंह की बलख-विजय का उल्लेख मिलता है—

यौं दल काढ़े बलक तैं, तैं, जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ, गुवाल ॥७११॥

रत्नाकरजी के अनुसार यह घटना संवत् १७०४ की है।

बहिर्साक्ष्य—बहिर्साक्ष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था, बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बीता तथा तरुणावस्था का आगमन उनकी अपनी ससुराल मथुरा में हुआ। निम्नलिखित दोहा बिहारी-सतसई में नहीं है। यह उनके चरित्र के किसी जानकार का लिखा हुआ प्रतीत होता है—

जनम ग्वालियर जानिए खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर मथुरा बसि ससुराल ॥

बिहारी के जन्म-संवत् के विषय में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

संवत् जुग सर रस सहित भूमि रीति गिन लीन।
कातिक सुदी बुध अष्टमी जनम हमैं विधि दीन ॥

यह दोहा भी किसी टीकाकार अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा रचा गया प्रतीत होता है। इसके अनुसार बिहारी की जन्म-तिथि कार्तिक सुदी अष्टमी १६५२ विक्रमी ठहरती है अर्थात् जुग = २, सर = ५, रस = ६ तथा भूमि = १। इसे उल्टे क्रम से रखने पर १६५२ संवत् सिद्ध होता है। यद्यपि गणित के आधार पर तिथि और दिन का मिलान ठीक नहीं बैठता। रत्नाकरजी की गणना के अनुसार संवत् १६५२ की कार्तिक सुदी अष्टमी गुरुवार को पड़ती है।[२] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र[३] एवं डॉ. हरवंशलाल शर्मा[४] प्रभृति विद्वानों ने इनका जन्म-संवत् १६५२ ही स्वीकार किया है।

---

१ **महाकवि बिहारी का शृंगार-निरूपण**, पृ. ११२ तथा १३१।
२ **महाकवि बिहारी**, पृ. ३२१।
३ **बिहारी**, पृ. ९८।
४ **बिहारी और उनका साहित्य**, पृ. ४।

बिहारी नरहरिदास के शिष्य थे। रत्नाकरजी के अनुसार उन्होंने निम्नलिखित दोहे में उक्त महात्मा का ही स्मरण किया है—

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्‌यौ, इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ॥२१॥

संवत् १६७५ के लगभग जहाँगीर वृन्दावन आये थे। उनके साथ युवराज शाहजहाँ भी था। उसने वृन्दावन में लोकविश्रुत नरहरिदास के भी दर्शन किये। उन्होंने उसके सम्मुख बिहारी की प्रतिभा की प्रशंसा की। इनकी प्रतिभा देख कर शाहजहाँ ने बिहारी से आगरा चलने का अनुरोध किया। गुरु नरहरिदास के संकेत पर वे आगरा चले आये, जिसका उल्लेख निम्नलिखित दोहे में हुआ है—

श्री नरहरि नरनाह को दीनी बाँह गहाइ।
सुगुन आगरै आगरैं रहत आइ सुख पाइ ॥

संवत् १६७७ में किसी उत्सव के अवसर पर शाहजहाँ के दरबार में भारत के अनेक राजा-महाराजा उपस्थित हुए थे। उस समय अनेक देशों के राजाओं ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके लिए वार्षिक वृत्ति बाँध दी। इनमें मिर्जा राजा जयशाह (जयसिंह) भी थे। संवत् १६९१-९२ के लगभग जब बिहारी अपनी वृत्ति लेने आमेर गये तो पता चला कि महाराज जयसिंह नव-विवाहिता रानी पर मुग्ध होकर महलों में ही पड़े रहते हैं और राजकाज से विमुख हो गये हैं। उनके प्रणय-प्रसंग में व्यवधान उपस्थित करने का साहस किसी को न होता था। बिहारी ने महाराज जयसिंह के पास निम्नलिखित दोहा भेजा, जिससे वे सचेत हो गये और महल से बाहर आकर बिहारी को बहुत-सा पुरस्कार दिया—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥३८॥

इससे जयसिंह की पटरानी चौहानी रानी भी प्रसन्न हुई और उन्होंने बिहारी को काली पहाड़ी नामक ग्राम दिया। उन्होंने इस घटना का एक चित्र भी बनवाया था।

बिहारी निःसन्तान थे। उन्होंने अपने भतीजे निरंजन को पुत्र के रूप में अपना लिया था। जनश्रुति के अनुसार बिहारी के एक पुत्र था जिसका नाम कृष्णलाल था। रत्नाकरजी का अनुमान है "सम्भव है कि उक्त पुत्र का नाम 'निरंजन कृष्ण' रहा हो, जिससे उसको कोई 'निरंजन' और कोई 'कृष्ण' कहता रहा हो।"[1]

बिहारी संवत् १७२१ के आसपास परलोकवासी हुए।

१ कविवर बिहारी, पृ. ३७८।

२

सतसई-परम्परा में बिहारी-सतसई का स्थान

छन्दों की संख्या के आधार पर ग्रन्थों का नामकरण प्राचीन काल से ही होता रहा है। हजारा, सतसई, पंचशती, शतक, अष्टक आदि इसी प्रकार के संग्रह हैं। इनमें सतसई एवं शतक का विशेष प्रचार हुआ। हिन्दी में सतसई की परम्परा संस्कृत एवं प्राकृत से गृहीत है। 'सतसई' तथा 'सतसइया' संस्कृत के सप्तशती तथा सप्तशतिका शब्दों से निष्पन्न हैं। बिहारी से पूर्व दो सप्तशती प्रसिद्ध थीं—सातवाहन द्वारा संगृहीत गाथासप्तशती तथा गोवर्धनाचार्य द्वारा प्रणीत आर्यासप्तशती। "वस्तुतः गाथासप्तशती ही प्रथम मुक्तक कोश है जिसमें सात सौ उक्तियाँ संगृहीत की गयी हैं।"[१] इसमें यद्यपि शृंगार का बाहुल्य है तथापि नीति, देवस्तुति तथा प्रकृति विषयक गाथाएँ (एक छन्द विशेष) संकलित हैं। "गाथासप्तशती के लगभग बीस छन्दों का अनुवाद बिहारी-सतसई में ज्यों का त्यों मिलता है, इसी से स्पष्ट है कि गाथासप्तशतीकार का बिहारी पर कितना प्रभाव है।"[२] आर्यासप्तशती का ढाँचा भी गाथासप्तशतीकार से मेल खाता है। इसमें भी शृंगार की प्रधानता है। छन्द अकारादि क्रम से रखे गये हैं। संस्कृत साहित्य में मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत 'दुर्गासप्तशती' भी पर्याप्त प्रसिद्ध है।

हिन्दी में सतसई-परम्परा का आरम्भ 'तुलसी-सतसई' से होता है। इसमें भक्ति-विषयक उद्गारों की प्रधानता है। इसके कुछ दोहों में कूट शैली अपनायी गयी है तथा ज्योतिष और गणित का भी व्यापक प्रयोग हुआ है। इसका रचनाकाल संवत् १६४२ विक्रमी है। गणित के अधिक प्रयोग एवं उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता के कारण कुछ विद्वान इसे गोस्वामी तुलसीदास की रचना नहीं मानते। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने इसे गाजीपुर निवासी किन्हीं तुलसी कायस्थ

१ डॉ. परमानन्द शास्त्री, **गाथासप्तशती : रीतिकालीन कवियों के सन्दर्भ में**, पृ. ३८।

२ डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, **महाकवि बिहारी का निरूपण**, पृ. ७३।

की रचना माना है किन्तु आचार्य सीताराम चतुर्वेदी इसे गोस्वामी तुलसीदास की ही रचना स्वीकार करते हैं।[1] यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि गोस्वामी तुलसीदास रचित दोहावली के लगभग १५० दोहे तुलसी-सतसई में मिलते हैं। तुलसी-सतसई में सप्तसर्ग हैं। प्रथम सर्ग में भक्ति, द्वितीय में उपासनापरक भक्ति, तृतीय में रामभजन, चतुर्थ में आत्मबोध निरूपण, पंचम में कर्म-सिद्धान्त, षष्ठ में ज्ञान-सिद्धान्त तथा सप्तम में राजनीति का निरूपण किया गया है।

रहीम-सतसई

रहीम-सतसई के नीति एवं शिक्षापरक लगभग पौने तीन सौ दोहे प्राप्त हैं जिन्हें रहीम-सतसई के अंग रूप में माना जाता है। इसके सम्बन्ध में श्री मायाशंकर याज्ञिक का अनुमान है "सम्भव है रहीम रचित सतसई में से किसी ने श्रृंगार के दोहे निकालकर नीति आदि के दोहों का एक छोटा-सा संग्रह किया हो और अब वही संग्रह प्राप्त है और श्रृंगार का भाग लुप्त हो गया है।"[2] फिर जो अंश हमें इस समय उपलब्ध है उसके आधार पर हम रहीम-सतसई को नीति-विषयक दोहों का संग्रह मानने को बाध्य हैं।

वृन्द-सतसई

यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से वृन्द-सतसई का क्रम 'बिहारी-सतसई' के बाद ही आता है किन्तु उपदेशपरक एवं नीति-प्रधान होने के कारण इसका उल्लेख भी यहीं करना उचित होगा। कवि वृन्द की 'श्रृंगार शिक्षा' एवं 'भाव पंचाशिका' नामक रस सम्बन्धी दो पुस्तकें भी उपलब्ध हैं तथापि उनकी ख्याति का मुख्य आधार वृन्द-सतसई ही है।

बिहारी-सतसई

हिन्दी के सतसई साहित्य में 'बिहारी-सतसई' का स्थान सर्वोपरि है। इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता है। स्थान-स्थान पर शान्त, वीर एवं हास्य आदि रसों की छटा भी बिखरी हुई है। बिहारी ने सतसई के दोहों को रचनाकाल के क्रम से ही रखा था, विषय आदि के क्रम से नहीं। बिहारी-सतसई का सर्वप्रथम क्रम कोविद कवि ने संवत् १७४२ के लगभग लगाया था जिसके अन्त में उन्होंने यह दोहा लिखा है—

> किए सात सौ दोहरा सुकवि बिहारीलाल।
> बिनहि अनुक्रम ए भए महि मण्डल सुप्रकास॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "श्रृंगार रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति

---

१ **तुलसी ग्रन्थावली** (द्वितीय खण्ड), निवेदन, पृ. ७, विक्रम परिषद्, काशी।
२ **रहीम रत्नावली**, पृ. १७।

और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी-साहित्य में एक-एक रत्न माना जाता है।"[1] श्री जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' का अनुमान है कि बिहारी-सतसई की रचना का आरम्भ संवत् १६६२ में तथा समापन १७०४-५ में हुआ।[2] बिहारी-सतसई के सम्बन्ध में कहा गया है—

जो कोई रस रीति को समुझ्यौ चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को सिंगार॥

मतिराम-सतसई

बिहारी-सतसई के ढंग पर मतिराम ने 'मतिराम-सतसई' की रचना की। इनका जन्म संवत् १६७४ के लगभग तिकवाँपुर (कानपुर) में हुआ था। ये हिन्दी के प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि तथा भूषण के भाई माने जाते हैं। मतिराम-सतसई भावों की सरसता एवं स्वाभाविकता के लिए प्रसिद्ध है। यह भाषा की जटिलता तथा शब्दाडम्बर से मुक्त है। प्रेम की सुकुमार व्यंजना तथा संयोग एवं वियोग का चित्रण इसकी अपनी विशेषता है।

रसनिधि-सतसई

इस ग्रन्थ के लेखक श्री पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' हैं। ये संवत् १७१७ तक वर्तमान थे। बिहारी-सतसई के अनुकरण पर इन्होंने 'रतन हजारा' की रचना की थी। इसी का लघु संस्करण रसनिधि-सतसई के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भी श्रृंगार रस की प्रधानता है। इस पर फारसी-काव्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। दोहों में अलंकारों का भी समुचित प्रयोग हुआ है। इसके कुछ दोहों पर बिहारी की छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है। यथा—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परत गाँठि दुरजन-हियैं; दई, नई यह रीति॥३६३॥

रसनिधि का दोहा है—

उरझत दृग बँधि जात मन कहौ कौन यह रीति।
प्रेम नगर में आइके देखी बड़ी अनीति॥

राम-सतसई

इस ग्रन्थ के रचयिता रामसहायदास कायस्थ हैं। इसकी रचना भी बिहारी-सतसई के अनुकरण पर हुई है। इसके अनेक दोहे सरसता में बिहारी-सतसई के दोहों के समकक्ष हैं। बिहारी के अनुकरण में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

---

१ **हिन्दी-साहित्य का इतिहास**, पृ. २४६।
२ **कविवर बिहारी**, पृ. १६६।

राम-सतसई श्रृंगार रस का उत्तम ग्रन्थ है। रामसहायदास का कविता-काल संवत् १८६० से १८८० तक माना जाता है। राम-सतसई से एक दोहा प्रस्तुत है—

लागे नैना नैन में कियो कहा धौं मैन।
नहिं लागैं नैना, रहैं लागे नैना नैन॥

बिहारी-सतसई में यह भाव इस प्रकार आया है—

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाँहि॥६२॥

विक्रम-सतसई

श्रृंगार रसात्मक सतसई-परम्परा की अन्तिम कड़ी विक्रम-सतसई है। "इसकी रचना बिहारी-सतसई को आदर्श मानकर की गयी थी।" 'बिहारी-सतसई' की अनेक प्रवृत्तियाँ—जैसे मंगलाचरण के रूप में राधा की स्तुति, कृष्ण के प्रति दैन्य-प्रदर्शन तथा उन्हें अपने 'दीनबन्धु', 'करुणाकर', 'पतित-पावन' आदि के विरुद की रक्षा के लिए उकसाना, अलग-अलग दोहों में नायिका के नख-शिख का वर्णन, हाव और अनुभावों का सूक्ष्म चित्रण, संयोग पक्ष की प्रधानता आदि 'विक्रम-सतसई' में मिलती है।"[1] इसकी रचना संवत् १८७२ ई. से पूर्व हुई क्योंकि १८७२ विक्रम में बिहारीलाल त्रिपाठी नामक कवि ने इस पर रसचन्द्रिका नाम्नी टीका लिखी थी। विक्रम-सतसई का एक दोहा इस प्रकार है—

हटके हठ मानत नहीं दृग तुरंग तजि नेहु।
समुझ सयानी अब इन्हैं, लाज लगाम न देहु॥

इस पर बिहारी के निम्नलिखित दोहे की छाप है—

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥६१०॥

आधुनिक युग में श्री वियोगी हरि ने 'वीर-सतसई' की रचना की है, जिसमें वीर रस की प्रधानता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सतसई के निर्माण की परम्परा ईसा की प्रथम शताब्दी में रचित 'गाथासप्तशती' से आरम्भ होकर प्राकृत में होती हुई हिन्दी में अवतरित हुई। इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता रही। इस श्रृंखला में 'बिहारी-सतसई' का स्थान सर्वोपरि है। भावों के संयोजन एवं अभिव्यक्ति में परवर्ती सतसईकारों ने अधिकतर इसी का अनुकरण किया है।

---

१ डॉ. गणपतिचन्द गुप्त, **महाकवि बिहारी का श्रृंगार-निरूपण**, पृ. ९०-९१।

३

बिहारी-सतसई : एक परिचय

'बिहारी-सतसई' बिहारी की एकमात्र रचना है। इसी के कारण उन्होंने इतनी ख्याति अर्जित की है कि कुछ आलोचक उन्हें महाकवि की उपाधि से विभूषित करते हैं। रामचरितमानस के पश्चात हिन्दी में सम्भवतः बिहारी-सतसई ही सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है तथा जितनी टीकाएँ 'बिहारी-सतसई' पर लिखी गयीं, उतनी रामचरितमानस को छोड़कर किसी अन्य ग्रन्थ पर नहीं लिखी गयीं। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अपनी पुस्तक **'कविवर बिहारी'** में बिहारी-सतसई की ५४ टीकाओं का उल्लेख किया है। विगत ३०-४० वर्षों में सतसई पर और भी अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जो इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

'सतसई' नाम के आधार पर 'बिहारी-सतसई' में ७०० दोहों का आभास होता है। 'बिहारी-सतसई' के प्रसिद्ध टीकाकार कोविद कवि ने अपनी टीका के [illegible] में सतसई में ७०० दोहे ही स्वीकार किये हैं तथा अन्त में लिखा है—

'किए सात सौ दोहरा सुकवि बिहारीदास।'

किन्तु इस टीका में भी वास्तव में ७०४ दोहे हैं। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने सतसई की अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियों के आधार पर इस ग्रन्थ में ७१३ दोहे स्वीकार किये हैं तथा 'बिहारी-रत्नाकर' में ७१३ दोहों की ही टीका प्रस्तुत की है। जैसा पहले बताया जा चुका है बिहारी ने सतसई की रचना राजा जयसिंह की प्रेरणा से की थी। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है—

हुकुमु पाय जयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ॥७१३॥

इस दोहे के अन्तिम भाग 'भरी अनेक सवाद' से यह संकेत मिलता है कि यह रचना अनेक सवादों (रसों) से भरी हुई है। इसी बात को दृष्टिपथ में रखते हुए डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने विषय-भेद के अनुसार संख्या क्रम से बिहारी के दोहों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

१. नारी सौन्दर्य का वर्णन	११० दोहे
२ नारी चेष्टाओं का चित्रण	६४ दोहे

३. प्रेमानुभूति से सम्बन्धित	१२४ दोहे
४. संयोग-वर्णन	२५ दोहे
५. विरह-वर्णन	६५ दोहे
६. प्रकृति-वर्णन	३५ दोहे
७. नायिका-भेद सम्बन्धी	१५० दोहे
८. श्रृंगार के स्वतन्त्र वर्णन	२० दोहे
९. भक्ति सम्बन्धी	५० दोहे
१०. नीति सम्बन्धी	४५ दोहे
११. दर्शन, ज्योतिष आदि विषयों पर	१७ दोहे
१२. महाराजा जयसिंह सम्बन्धी	७ दोहे
	कुल ७१२ दोहे

(**बिहारी-रत्नाकर** के आधार पर)

इसमें सम्भवतः ऊपर उद्‌धृत दोहा सं. ७१३ सम्मिलित नहीं किया गया है। उपर्युक्त वर्गीकरण में दोहा सं. १ से ८ तक के वर्ग में आने वाले विषय श्रृंगार रस से सम्बन्धित हैं। अतः स्पष्ट है कि सतसई में श्रृंगार की प्रधानता है। नीति-विषयक दोहों में भी कवि ने अनेक स्थलों पर उपमानों का चयन नारी के अंगों से किया है, जिनमें श्रृंगार की झलक आ गयी है, यथा निम्न-लिखित दोहों में कवि कहता है संगति का दोष सबको उसी प्रकार लगता है जिस प्रकार कुटिल भृकुटि के साथ से नेत्र कुटिल गति वाले हो गये हैं—

संगति-दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-वंक-भ्रुव-सँग भए कुटिल, बंक-गति नैन ॥३०३॥

सतसई के भक्ति-विषयक दोहे, जिनमें उन्होंने आत्म-निवेदन किया है अवश्य श्रृंगारिकता से मुक्त हैं किन्तु ब्रह्म के निरूपण में यहाँ भी नारी की सूक्ष्म कटि आ विराजी है—

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐं नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ ॥६४८॥

ज्योतिष-विषयक दोहों में भी नारी की छाया व्याप्त है—

मंगलु बिंदु सुरंगु मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥४२॥

प्रकृति-वर्णन विषयक दोहों में भी अधिकतर प्रकृति श्रृंगार रस के उद्दीपन रूप में आयी है। निम्नलिखित दोहे में प्रकृति का उद्दीपन रूप द्रष्टव्य है—

सघनकुंज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर।
मन ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर ॥६८१॥

कुछ दोहे ऐसे भी हैं जिन्हें विशुद्ध रूप से भक्ति एवं शुद्ध प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत रखा जा सकता है; यथा—

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्‌यौ, इहिं धरहरि चित लाउ।
बिषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ॥२१॥

इसमें कवि चेतावनी देता है कि तुम यमराज रूपी हाथी के मुख के नीचे पड़े हुए हो, निश्चित रूप से यह जानकर विषय-तृष्णा को त्याग कर नरहरि के गुणों का गान करो। निम्नलिखित दोहे में वसंत का सजीव चित्रण है—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु-अंध ॥४९६॥

बिहारी-सतसई के नीति-विषयक दोहे भी उत्कृष्ट कोटि के हैं। अपने अत्यन्त आवश्यक कार्यों को भी रोककर जो धन-संग्रह में लगे हुए हैं, उनके प्रति कवि की उक्ति है—

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियै धनु जोरि।
खाऐं खरचैं जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि ॥४८१॥

इस प्रकार बिहारी-सतसई का मुख्य विषय श्रृंगार है। साथ ही उसमें भक्ति-नीति आदि अन्य विषयों का भी समावेश पाया जाता है।

४

बिहारी का श्रृंगार-वर्णन

(क) संयोग-श्रृंगार

रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। इनकी संख्या नौ मानी गयी है—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनमें भी कुछ आचार्यों ने श्रृंगार को 'रसराज' स्वीकार किया है। श्रृंगार का स्थायी-भाव 'रति' है, जिसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। हृदय की जितनी वृत्तियों का सम्बन्ध इस स्थायी भाव से है उतना अन्य किसी से नहीं। इसमें सुखात्मक एवं दुःखात्मक दोनों प्रकार के भाव समाहित हैं। अतः इसके दो रूप हैं—संयोग-श्रृंगार तथा वियोग-श्रृंगार। इस शीर्षक के अन्तर्गत बिहारी द्वारा चित्रित संयोग-श्रृंगार पर विचार किया जा रहा है।

रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने श्रृंगार-वर्णन में नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों का सविस्तार वर्णन किया है। उनके मुख्य वर्ण्य विषय हैं—वयःसन्धि वर्णन, नख-शिख निरूपण, दूती-प्रसंग तथा उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण। इनके अतिरिक्त नायक-नायिका की आँख-मिचौनी, जल-क्रीड़ा, झूला, फाग खेलना, कबूतरबाजी, पतंगबाजी आदि पर भी काव्य-रचना हुई है। बिहारी-सतसई में प्रायः इन सबको स्थान मिला है।

नायिका की वयःसन्धि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसके शरीर से अभी लड़कपन की झलक नहीं छूटी पर शरीर में यौवन की झलक आ रही है। इन दोनों के मिलने से देह में धूपछाँह के कपड़े की दीप्ति आ गयी है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफता-रंग ॥७०॥

उभरते हुए यौवन की तुलना कवि ने चढ़ती हुई नदी से की है। इसमें कोई तो भीग जाते हैं, कोई दलदल में फँस जाते हैं, कोई डूब जाते हैं और हजारों बह जाते हैं—

इक भीजैं, चहलैं परैं, बूड़ैं, बहैं हजार।
किते न औगुन जग करैं, बै-नै चढ़ती बार ॥४६१॥

संयोग के समय कवि ने प्रेमी-प्रेमिकाओं के खिलवाड़ के सजीव चित्र अंकित किये हैं। बातों का आनन्द प्राप्त करने के लिए राधा ने कृष्ण की मुरली छिपा कर रख दी है। शपथ दिलाने पर वह भौंहों में हँस देती है और जब वे मुरली देने के लिए कहते हैं तो नहीं करने लगती है—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ ।।४७२।।

आँख-मिचौनी के खेल में नायिका द्वारा आँख मींचे जाने पर नायक पहचान लेने पर भी अनजान बनने का अभिनय करता है और पहचान लेने पर भी सही बात प्रकट नहीं करता। नायिका के कर का स्पर्श-सुख प्राप्त करने में थोड़ा कष्ट सहने में भी उसे सुख का अनुभव होता है—

प्रीतम-दृग-मिहचत प्रिया पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति जनाइ ।।४२२।।

नायक द्वारा उड़ायी गयी पतंग की छाया नायिका के आँगन में पड़ रही है। नायिका के लिए वही प्रेम का आलम्बन बन गयी है। अतः वह उसकी छाया का स्पर्श करने के लिए बौरी-सी दौड़ी फिरती है—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ।।३७३।।

प्रियतम के ध्यान में निमग्न नायिका उन्हीं के रूप में परिणत हो गयी है। अतः आरसी (दर्पण) देखकर आप ही आप पर रीझ उठती है—

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि ।।५८३।।

विद्यापति ने इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेल मधाई ।।

मुद्रिका के दर्पण में प्रिय की छाया पाकर उनकी ओर पीठ करके भी वह बेधड़क होकर टकटकी लगाकर उनके प्रतिबिम्ब को देख रही है—

कर-मुँदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ।
पीठि दियैं निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ ।।६११।।

नायक-नायिका पारस्परिक प्रेम-भाव को अपनी कुछ विशेष आंगिक मुद्राओं द्वारा व्यक्त कर देते है। ऐसे प्रसंगों में अद्‌भुत क्रियाविदग्धता का पता चलता है; यथा—

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ।।३४।।

यहाँ कमल को सिर से स्पर्श कराने में कमलवत् चरणों में सिर रखने

(पाँव पड़ने) का संकेत तथा आरसी को हृदय से लगाने में हृदय में बसाने का संकेत है।

बिहारी के नायक-नायिका परम प्रवीण हैं, जो नैनों के संकेत की भाषा समझते हैं। हाँ, नहीं, रीझना, खीझना यहाँ तक कि लज्जा जैसा सूक्ष्म भाव नैनों के संकेत से ही प्रकट कर देते हैं—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात ॥३२॥

प्रेम के क्षेत्र में क्रोध को स्थान नहीं है। श्लेष के माध्यम से कवि ने इस बात को सुन्दर रूप में व्यक्त किया है—

लग्यो सुमन ह्वै है सफलु, आतप-रोसु निवारि।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ॥१६॥

जायसी भी कहते हैं—

रिस महँ काकर भएउ सोहागू ॥

सौन्दर्य एवं सुकुमारता के वर्णन में कवि की नाजुकख्याली द्रष्टव्य है—

भूषन-भारु सँभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा हीं कैं भार ॥३२२॥

अंकुरित यौवना नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में कवि की चमत्कारिक उक्ति देखने योग्य है—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥३४७॥

महाकवि माघ की उक्ति है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया' बिहारी ने इसी को यहाँ सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। पं. पद्मसिंह शर्मा ने इस दोहे पर मुग्ध होकर 'चित्र क्यों न बन सका' शीर्षक से एक लेख ही लिखा है।[1]

बिहारी-सतसई में संयोग शृंगार के विभिन्न रूप मिलते हैं; यथा—(१) प्रेम का आरम्भ, (२) साज-सज्जा, (३) मिलनोत्सुकता, (४) अभिसार (शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका), तथा (५) रति के अनेक रूप। इनके उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत हैं—

१. प्रेम का आरम्भ—

नई लगनि, कुल की सकुच बिकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिनु जाइ ॥२०५॥

---

१ **बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन**, पृ. ७७, पंचम संस्करण, १९६७ ई.।

२. साज-सज्जा—

बेंदी भाल, तँबोल मुँह, सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे, राजै खरी एई सहज सिंगार ॥६७६॥

३. मिलनोत्सुकता—

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि, त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहचटैं बाल ॥५४३॥

४. अभिसार—

शुक्लाभिसारिका—

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौधें कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ॥७॥

कृष्णाभिसारिका—

सघन कुंज, घन घन-तिमिरु, अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरिहै, स्याम, वह दीपसिखा सी जाति ॥२६६॥

५. रति के अनेक रूप

रति-वर्णन में विहारी की सूक्ष्म दृष्टि दर्शनीय है। अनेक स्थलों पर उनके वर्णन मांसल हो गये हैं और वे मर्यादा की रक्षा नहीं कर सके हैं। कुछ दोहे तो अश्लीलता की सीमा का स्पर्श करते हैं। इनके उदाहरण न देकर केवल एक दोहा प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें संकेत-मात्र से रति-प्रसंग की ओर इंगित किया गया है—

पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटलीं, अलीं चलीं सुखु पाइ ॥२४॥

अनेक स्थलों पर कवि ने प्रेम की अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढंग से की है। प्रेम की व्यंजना एवं विश्लेषण में उसकी प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।
भो मन मोहन-रूपु मिलि पानी मैं कौ लोनु ॥१८॥

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन-हियैं; दई, नई यह रीति ॥३६३॥

निम्नलिखित दोहे में नायक-नायिका का प्रश्नोत्तर व्युत्पन्न मति का अच्छा उदाहरण है—

बाल, कहा लाली भई लोइन-कोइनु माँह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छाँह ॥१६८॥

'रतिरंग'के प्रसंग में कवि का कथन है कि इसके रहस्य को वे ही समझ सकते हैं जो सर्वतोभावेन इसमें निमग्न हो गये हैं—

तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥६४॥

(ख) विप्रलंभ-श्रृंगार

'मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।' उक्ति से विरह की महत्ता सिद्ध होती है। वास्तव में विरह की अग्नि में ही प्रेम का कंचन शुद्ध रूप में निखर कर आता है। विरह को हम प्रेम का सजग प्रहरी कह सकते हैं क्योंकि इस काल में ही प्रेम की सच्ची परीक्षा होती है। संयोग-काल में प्रेमी-प्रेमिकाओं की दृष्टि अत्यन्त सीमित क्षेत्र में ही रहती है। अपने अतिरिक्त किसी दूसरे की ओर ध्यान देने की न उन्हें इच्छा होती है और न अवकाश। किन्तु विरह-काल में विरही अपने वैयक्तिक सुख-दुख से ऊपर उठकर जगत् से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। अन्य प्राणियों की तो बात क्या वह निर्जीव पदार्थों तथा प्रकृति से भी अपना तादात्म्य स्थापित करता है तभी तो कालिदास का यक्ष मेघ से अपना सन्देश ले जाने के लिए प्रार्थना करता है तथा तुलसी के राम लताओं तथा खग-मृग से सीता का पता पूछते हैं—

लछिमन समिकाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती।
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृग नैनी॥

बिहारी ने भी विरह-वर्णन में पर्याप्त रुचि दिखायी है। उनका विरह-वर्णन परम्परागत रूढ़ियों से प्रभावित है जिसमें ऊहात्मकता की प्रधानता है। उसमें चमत्कारप्रियता तथा अतिशयोक्ति को विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ है—

विप्रलंभ श्रृंगार के चार भेद माने गये हैं : (१) पूर्वराग, (२) मान, (३) प्रवास, तथा (४) करुण। इनमें से बिहारी-सतसई में करुण को छोड़कर शेष तीनों का निरूपण हुआ है।

(१) **पूर्वराग**—किसी के गुण श्रवण अथवा दर्शन कर हृदय में जो अनुराग का उदय होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं यथा—

हरि-छबि-जल जब तैं परे, तव तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूड़त तरत रहत घरी लौं नैन ॥३०७॥

(२) **मान**—यह दो प्रकार का होता है—प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान। प्रणयमान में प्रेमियों के परस्पर रूठने का चित्रण होता है तथा ईर्ष्यामान में प्रिय की अन्य वनिताओं में आसक्ति के कारण उत्पन्न रोष की प्रधानता रहती है। बिहारी-सतसई से इनके उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. प्रणय-मान—

दोऊ अधिकाई-भरे एकैं गौं गहराइ।
कौनु मनावै को मनै, माने मन ठहराइ ॥५५९॥

२. ईर्ष्या-मान—

वाही दिन तैं ना मिट्यौ मानु, कलह को मूलु।
भलैं पधारे, पाहुने, ह्वै गुड़हर कौ फूलु ॥५६५॥

(३) **प्रवास**—प्रियतम के विदेश चले जाने पर हृदय में जो सन्तापमयी वृत्ति उत्पन्न होती है उसे प्रवास-विप्रलंभ के अन्तर्गत रखा जाता है। इसके तीन रूप माने गये हैं। बिहारी-सतसई में इन सब का वर्णन मिलता है—

१. प्रिय के विदेश-गमन के अवसर का उद्वेग, यथा—

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं हीं जमुहाइ ॥३५८॥

२. प्रियतम के विदेश में रहते समय सन्ताप की अनुभूति, यथा—

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाँहि ॥६२॥

३. प्रवास से लौटकर आए हुए प्रिय के दर्शन का औत्सुक्य, यथा—

रहे बरोठे मैं मिलत पिउ प्राननु के ईसु।
आवत आवत ही भई बिधि की घरी घरी सु ॥२२३॥

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार "बिहारी ने पूर्वराग का वर्णन अधिक किया है, पर प्रवास का वर्णन अधिकतर। मान को भी दूर तक नहीं घसीटा है।"[1] बिहारी के विरह-वर्णन में अनेक स्थलों पर ऊहात्मकता का आश्रय लिया गया है तथा अनेक दोहों में अतिशयोक्ति का निदर्शन मिलता है। ऐसे स्थल चमत्कारपूर्ण अवश्य हैं किन्तु रस की दृष्टि से ये निम्नकोटि के ही माने जाएँगे। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

औंधाई सीसी, सु लखि बिरह-बरनि बिललात।
बिच हीं सूखि गुलाबु गौ, छींटौ छुई न गात ॥२१७॥

आड़ै दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति ॥२८३॥

सुनत पथिक-मुँह, माह-निसि चलति लुवैं उहिं गाम।
बिनु बूझैं, बिनु हीं कहैं, जियति बिचारी बाम ॥२८५॥

इस प्रकार के वर्णनों के आधार पर डॉ. हरवंशलाल शर्मा का कथन है—"यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इनके विरह-वर्णन में उतनी गम्भीरता

१ बिहारी, पृ. १२२।

नहीं है जितनी सूर आदि भक्त कवियों के वर्णन में। वास्तव में रीतिकाल के लौकिक उपयोगपरक दृष्टिकोण में विरह का विस्तार समा ही न सकता था। उस ओर कवियों की इतनी रुचि भी नहीं थी जितनी संयोग की ओर। रीतिकालीन कविजगत के गुरु बिहारी भी जग की इस वायु से प्रभावित न होते तो सचमुच आश्चर्य की बात थी।"[1]

आचार्यों ने वियोगजन्य दस दशाओं का उल्लेख किया है—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मरण। डॉ. रामसागर त्रिपाठी के अनुसार "बिहारी में न्यूनाधिक रूप में उक्त सभी दशाएँ प्राप्त हो जाती हैं।"[2] बिहारी-सतसई से क्रमशः इनके उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. अभिलाषा—

बाम बाँह, फरकति, मिलैं जौ हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीं सौं भेंटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥५७२॥

२. चिन्ता—

देखत बुरै कपूर ज्यौं उपै जाइ जिन, लाल।
छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल॥८९॥

३. स्मृति—

जहाँ जहाँ ठाढौ लख्यौ स्यामु सुभग-सिरमौरु।
बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु॥१८२॥

४. गुण-कथन—

लाल, तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप, अपार।
सरसै बरसैं नीर हूँ, झर हूँ मिटैं न झार॥३९॥

५. उद्वेग—

ह्याँ तैं ह्वाँ, ह्वाँ तैं इहाँ, नेकौ धरति न धीर।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर॥५२५॥

६. प्रलाप—

धुरवा होहिं न, अलि, उठैं धुवाँ धरनि-चहुँकोद।
जारत आवत जगत कौं पावस-प्रथमपयोद॥५४९॥

७. उन्माद—

मरिबे कौ साहसु ककै बढ़ैं बिरह की पीर।
दौरति ह्वै समुही ससी, सरसिज, सुरभि-समीर॥५८५॥

---

१ बिहारी और उनका साहित्य, पृ. १७१।
२ बिहारी मीमांसा, पृ. २९४।

८. व्याधि—

याकैं उर औरै कछू लगी बिरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कैं, पिय की बात बुझाइ ॥४८॥

९. जड़ता—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँहआहि न आहि ॥५६॥

१०. मरण—

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
बिरह-ज्वाल जरिबौ लखैं मरिबौ भई असीस ॥११०॥

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विरह ताप एवं कृशता के वर्णन में ऊहात्मकता एवं अतिशयोक्ति के अधिक प्रयोग के कारण बिहारी का विरह-वर्णन अनेक स्थलों पर अस्वाभाविक हो गया है किन्तु विरह-दशा के वर्णन में जहाँ मार्मिक उक्तियों का चित्रण है वहाँ वह हृदयस्पर्शी बन पड़ा है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन उल्लेखनीय है "बिहारी ने विरह-वर्णन तो ऊहात्मक करके बिगाड़ दिया, पर अन्यत्र प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन में व्यापक अनुभूति और निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। विरह दशाओं में स्मरण, चिन्ता के अतिरिक्त व्याधि पर ही उनकी विशेष दृष्टि रही। व्याधि पर अधिक दृष्टि रखने से विरह-ताप, क्षीणता आदि के अत्युक्तिपूर्ण उल्लेख हुए। यह सब परम्परा की खूबी है।"[1]

---

१ बिहारी की वाग्विभूति, पृ. १४-१५।

५

बिहारी का अनुभाव-चित्रण

किसी भाव विशेष की व्यंजना में आलम्बन के चित्रण के साथ-साथ आश्रय की चेष्टाओं का भी विशेष महत्व है। इनमें से प्रथम अर्थात् आलम्बन के कार्य-व्यापार 'विभाव' तथा आश्रय की चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती हैं। 'अनुभाव' शब्द 'भाव' में 'अनु' उपसर्ग के योग से बना है। अनु का अर्थ है—पश्चात्। इस प्रकार अनुभाव का अर्थ हुआ, जो भावों के पश्चात् हो। इनसे भावों की सूचना मिलती है। आचार्य धनञ्जय के अनुसार—

'अनुभावो विकारस्तु भाव संसूचनात्मकः'[1]

अर्थात् भावों की सूचना देने वाले विकार अनुभाव हैं। अनुभाव का दूसरा अर्थ अनुभव कराने वाला भी है 'अनुभावयन्ति इति अनुभावः।' इस प्रकार अनुभाव सदैव भाव प्रेरित ही होते हैं। उद्दीपन विभाव तथा अनुभावों में सूक्ष्म भेद है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में "अनुभाव और उद्दीपन में विषयी और विषय के सम्बन्ध का ही भेद है। यदि ये ही चेष्टाएँ नायिका में भाव की प्रेरणा के परिणामस्वरूप दिखायी जायेंगी तो वे अनुभाव हो जायँगी। स्थान भेद से वे अनुभाव भी हो सकती हैं और उद्दीपन भी।"[2]

अनुभाव दो प्रकार के माने गये हैं—(१) सात्विक, और (२) कायिक।

सात्विक अनुभाव—'जो विकार या व्यापार शरीर की स्वाभाविक क्रिया के रूप में होते हैं और जिनके ऊपर आश्रय का कोई वश नहीं रहता वे सात्विक कहलाते हैं।'[3] इनकी संख्या आठ मानी गयी है—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वरभंग, (५) कम्प, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु, (८) प्रलय। बिहारी-सतसई से इनके उदाहरण प्रस्तुत हैं—

---

१ **दशरूपक,** ४/३।

२ **बिहारी,** पृ. १४१।

३ **काव्यप्रदीप,** पृ. ५४।

स्तम्भ—

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि।
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि ॥६३६॥

स्वेद एवं रोमांच—

स्वेद-सलिलु, रोमांच-कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँग हाथ कैं हथलेय हीं हाथ ॥२५६॥

स्वर-भंग—

सुरति न ताल न तान की, उठ्यौ न सुरु ठहराइ।
एरी, रागु बिगारि गौ बैरी बोलु सुनाइ ॥५५२॥

कम्प—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल ॥६०१॥

वैवर्ण्य—

औरै गति, औरै बचन, भयौ बदन-रँगु औरु।
द्योसक तैं पिय-चित चढ़ी कहैं चढ़ैं हूँ त्यौरु ॥६७८॥

अश्रु—

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अंसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं हीं जमुहाइ ॥३५८॥

प्रलय—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न आहि ॥५६॥

कायिक अनुभाव—जो विकार या व्यापार अंगों की चेष्टाओं के रूप में होते हैं, जो आश्रय के अधीन होते हैं, वे कायिक कहलाते हैं। काया (शरीर) से सम्बन्ध होने के कारण इन्हें कायिक कहते हैं, यथा—कटाक्षपात, हाथ से इंगित करना, फटकारना, झपटना, कूदना आदि।'[1] बिहारी-सतसई में इनके भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। निम्नलिखित दोहे में इधर से उधर तथा उधर से इधर पुनः-पुनः आने-जाने में उत्सुकता की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है—

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति ॥२०६॥

---

१ **काव्यप्रदीप**, पृ. ५५।

निम्नलिखित दोहे में चपलता का भाव प्रस्फुटित हुआ है—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ॥३७३॥

नायिका की विभिन्न चेष्टाओं द्वारा कवि ने अनुभावों का सुन्दर चित्रण किया है, यथा निम्नलिखित दोहे में—

त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली, अली की ओट कैं, चली भली बिधि चाहि ॥८८॥

निम्नलिखित दोहे में सात्विक अनुभाव, पुलक तथा कायिक अनुभाव ओठों का फड़कना, आँख का उघड़ना तथा जुड़ना—कायिक अनुभावों का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन ॥६३६॥

कुछ विद्वानों ने सात्विक तथा कायिक अनुभावों के अतिरिक्त वाचिक तथा आहार्य अनुभाव भी माने हैं। 'नायक नायिका के परस्पर प्रेम-संलाप तथा खण्डिता की कटूक्तियाँ वाचिक अनुभावों में रखी जायेंगी'[1] निम्नलिखित दोहे में शठ नायक एवं खण्डिता नायिका का वार्त्तालाप कायिक अनुभाव के अन्तर्गत आएगा—

बाल, कहा लाली भई लोइन-कोइनु माँह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छाँह ॥१६८॥

'जब नायिका प्रिय के समीप जाने के उद्देश्य से ही बनाव श्रृंगार करती तब उसकी सज्जा आहार्य अनुभाव कही जाती है।'[2] बिहारी ने नायिकाओं की साज-सज्जा का वर्णन अनुभावों की अपेक्षा अधिकतर सामान्य रूप में ही किया है।

बिहारी की अनुभाव-योजना भाव-निरूपण में भी सहायक हुई है यथा निम्नलिखित दोहे में कृष्ण के वारित करने पर भी राधा हँसकर अपनी गाएँ उनकी गायों में मिला देती हैं। इस क्रिया में नेत्रों के मिलने के साथ-साथ उनके मन भी मिल जाते हैं—

उन हरकी हँसी कै, इतै इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिलै मन मिलि गए दोऊ, मिलवत गाइ ॥१२८॥

---

१ बिहारी और उनका साहित्य, पृ. १६०।
२ बिहारी और उनका साहित्य, पृ. १६१।

वास्तव में "बिहारी मार्मिक अनुभाव-व्यंजना के धनी हैं। भाव को हृदयंगम कराने के लिए वे भाँति-भाँति की सहज चेष्टाओं का विधान करके अभीष्ट घटना का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देते हैं जिससे अनुभावों की रेखाएँ इतनी स्पष्ट, उचित एवं उपयुक्त होती हैं कि उनका सौन्दर्य आँखों को बरबस आकृष्ट कर लेता है।"[१]

---

१ बिहारी और उनका साहित्य, पृ. १५६।

६

बिहारी की भक्ति-भावना

बिहारी मूलतः एक श्रृंगारी कवि हैं किन्तु उनकी सतसई में भक्ति-भावना का भी अच्छा परिपाक हुआ है। बिहारी-सतसई में लगभग ५० दोहे भक्ति सम्बन्धी हैं। रीतिकाल के श्रृंगारी कवि भक्ति की ओर क्यों आकृष्ट हुए इस सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र का विचार है "वास्तव में यह भक्ति भी उनकी श्रृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर तो सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक क्षरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो किसी न किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थी।"[1]

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार "भगवान या उनकी भक्ति के सम्बन्ध में रचना करने वाले दो प्रकार के हैं। एक वे जो संसार के जंजाल से अलग हो वैराग्य धारण कर भगवान की शरण जाने का उपदेश देते हैं और दूसरे वे जो उक्ति के स्वास्थ्य के लिए समय-समय पर भक्ति के उद्‌गार प्रकट करते हैं। पहले रचयिता भक्त या बिरागी हैं और दूसरे कवि या संसारी।"[2] इस दृष्टि से बिहारी दूसरी कोटि के भक्तों अर्थात् संसारी के अन्तर्गत आएँगे। ये कवि दार्शनिक मतवादों एवं भक्ति के दार्शनिक विवेचन में नहीं पड़ते। उनकी रचनाओं में हृदय की कोमल अनुभूतियों, भगवान के गुणगान, अपनी दीनता एवं संसार से उद्धार के लिए प्रार्थना का ही विशेष वर्णन मिलता है। बिहारी मतवाद को व्यर्थ का शोर मानकर एक नन्दकिशोर की सेवा को ही परम धर्म मानते हैं—

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नंदकिसोरु ॥५८१॥

---

१ **रीतिकाव्य की भूमिका**, पृ. १८०।
२ **बिहारी**, पृ. १२६।

वे निर्गुण और सगुण के भेद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार निर्गुण रूप में भगवान निकट ही प्रकट होते हैं—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-बिस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल ॥४२८॥

साथ ही मोक्ष की कामना करते हुए वे सगुण ब्रह्म के गुणों में बँधना चाहते हैं—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ।
जौं बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु ॥२६१॥

उनकी दृष्टि में राम और कृष्ण में भी भेद नहीं है। उनकी अनेक उक्तियाँ भगवान के प्रति सामान्य भावना पर आधारित हैं। दोनों की लीलाओं में उन्हें भेद नहीं दिखायी पड़ता। एक दोहे में ये कहते हैं—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिवी मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि ॥३१॥

स्पष्ट है कि गीध (जटायु) को तारने वाले भगवान राम थे, कृष्ण नहीं।

संसार के त्रयतापों से संतप्त होकर कवि ने अपने हृदय को हम्माम बना रखा है जिससे कभी यहाँ आने पर श्याम पुलकित होकर करुणार्द्र हो जाएँ—

मैं तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मत कबहुँक आऐं यहाँ पुलकि पसीजैं स्यामु ॥२८१॥

'सतसई' में भक्ति के प्रसंग में भी कवि की वचन-वक्रता देखने योग्य है। कवि का भगवान के प्रति निवेदन है कि संसार भले ही मेरी निन्दा करे किन्तु मैं कुटिलता नहीं त्यागूँगा क्योंकि आप त्रिभंगीलाल हैं अतः मेरे सरल हृदय में बसने में आपको दुःख होगा—

करौ कुवत जगु कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल ॥

कवि वाह्याडम्बर का विरोधी है। उसकी दृष्टि में जप, माला, छापा, तिलक व्यर्थ है। कच्चा मन व्यर्थ के नाच नाचता है। राम तो सत्याचरण से ही प्रसन्न होते हैं—

जपमाला, छापा, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन-काँचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥१४१॥

कुछ दोहों में उपालम्भ का स्वर मुखर है यथा—

बंधु भए का दीन के, को तार्‌यौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठै बिरद कहाइ ॥६१॥

थोरै ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आजकाल्हि के दानि ।।६८।।

निम्नलिखित दोहे में कवि का व्यंग मर्मस्पर्शी है। वह कहता है–हे भगवान मैं दीन वचनों से आपको कब से पुकार रहा हूँ किन्तु आप मेरी सहायता नहीं करते। लगता है, हे जगद्गुरु जगनायक आपको भी इस जमाने की हवा लग गयी है—

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ ।।७१।।

बिहारी में भक्तोचित दैन्य भी विद्यमान है। वह जिस तिस भाँति भगवान के दरबार में पड़े रहने की कामना करता है—

हरि, कीजति बिनती यहै तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार ।।२४१।।

वह भगवान से प्रार्थना करता है—हे गोपीनाथ आप मेरे गुण अवगुणों को न गिनिए, मुझे भी अन्य पतितों के साथ तार दीजिए—

कीजै चित सोई, तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गननु गनौ न, गोपीनाथ ।।२२१।।

इस प्रकार बिहारी में भक्त-हृदय की तल्लीनता दिखायी पड़ती है।

७

बिहारी की अलंकार-योजना

काव्य की आत्मा यद्यपि रस है तथापि उसकी साज-सज्जा के लिए अलंकारों का भी अपना महत्व है। काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहे जाते हैं 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'[१] काव्य मूलतः शब्द और अर्थमय है 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[२] अतः काव्य में शोभा का विधान भी शब्द और अर्थ के द्वारा ही होता है। इसी आधार पर अलंकार दो प्रकार के माने गये हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। जहाँ शब्दगत सौन्दर्य की प्रधानता होती है वहाँ शब्दालंकार तथा जहाँ अर्थगत सौन्दर्य की प्रधानता होती है वहाँ अर्थालंकार माने जाते हैं। जहाँ शब्द और अर्थ दोनों का ही सौन्दर्य विद्यमान हो वहाँ उभयालंकार माने जाते हैं।

अलंकारों का काव्य में क्या स्थान होना चाहिए इस विषय में प्राचीन काल से ही आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ आचार्य अलंकारों को काव्य के लिए नितान्त आवश्यक मानते हैं तो कुछ ने इन्हें काव्य में गौण स्थान दिया है। अग्निपुराणकार के अनुसार अर्थालंकारों से रहित सरस्वती विधवा के समान है—'अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती'। आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनःक्वापि।'[३]

अर्थात् वे अलंकारों को काव्य के लिए आवश्यक नहीं मानते। उनके 'अनलंकृति' प्रयोग पर व्यंग करते हुए—चन्द्रालोककार का कथन है—

अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥[४]

---

१ **काव्यादर्श**, २/१।
२ **काव्यालंकार**, १/१६।
३ **काव्यप्रकाश**, प्रथम उल्लास।
४ **चन्द्रालोक**, १/८।

हिन्दी में रीतिकाल के आचार्य केशवदास का भी यही मत है कि अलंकारों के बिना कविता-कामिनी सुशोभित नहीं होती। उनकी मान्यता है—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजहीं कविता बनितामित्त ॥[1]

हिन्दी के रीतिकालीन कवि अलंकारवादियों से अधिक प्रभावित थे। वह युग साज-सज्जा और बाह्य-प्रदर्शन का था। अतः कवियों ने भी कविता-कामिनी को अलंकारों से सुसज्जित करने में अपनी पूरी शक्ति लगायी। बिहारी ने भी अपनी कविता में पग-पग पर अलंकारों का आश्रय लिया है किन्तु उन्होंने रस की उपेक्षा नहीं की। "उनकी रचना में लगभग सभी अलंकारों के उदाहरण मिल जाएँगे। पर उनका मुख्य उद्देश्य रसास्वादन ही है। कुछ गिनीचुनी उक्तियों को छोड़कर उनके अलंकार सर्वत्र भाव को तीव्रता प्रदान करते हैं।"[2]

बिहारी-सतसई में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं फिर भी उसमें अर्थालिंकारों की प्रधानता है। इसमें शब्दालंकारों का प्रयोग विशेष रूप से चमत्कार-प्रदर्शन के लिए हुआ है तथा अलंकारों की योजना रस के उत्कर्ष में सहायक हुई है। इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

शब्दालंकार

निम्नलिखित दोहे में मंजनु, कंजनु, अंजनु, रंजनु, खंजनु, मंजनु, दैन तथा नैन शब्दों में अनुप्रास का सुन्दर निर्वाह हुआ है—

रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु, नैन ॥४६॥

'सतसई' में यमक अलंकार के प्रयोग दर्शनीय हैं। अनेक स्थलों पर कवि ने इनका सहज प्रयोग किया है; यथा—

तो पर वारौं उरवसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरवसी-समान ॥२५॥

कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ, इहिं पाएँ हीं बौराइ ॥१९२॥

---

१ **कविप्रिया**, ५/१।
२ डॉ. हरवंशलाल शर्मा तथा परमानंद शास्त्री, **बिहारी और उनका काव्य**, पृ. २८७।

श्लेष भी कवि का प्रिय अलंकार है। इसके प्रयोग में कवि की चमत्कार-प्रियता के दर्शन होते हैं; यथा—

अजौं तरचौना हीं रह्यौ श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कैं संग॥२०॥

निम्नलिखित दोहे में **श्लेष मिश्रित वक्रोक्ति** की छटा द्रष्टव्य है—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥६७७॥

निम्नलिखित दोहे में **अनुप्रास, यमक, वीप्सा** आदि अलंकारों का एक साथ प्रयोग हुआ है तथापि अभिप्रेत अर्थ एवं भाव-निदर्शन में रंचमात्र व्याघात उपस्थित नहीं हुआ है। नाद-सौन्दर्य से इसकी शोभा में और भी वृद्धि हो गयी है—

रनित भृंग-घंटावली, झरति दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु॥३८८॥

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी बिहारी के शब्दालंकार प्रयोग की प्रशंसा करते हुए कहते हैं[1] "रीतिकाल के कवियों में शब्दालंकार के प्रयोग बहुत हैं पर अधिकतर वे काव्य के घटिया प्रभाव को उत्पन्न करके रह जाते हैं, अर्थ की वाह्य सत्ता से उनका जितना सम्बन्ध होता है उतना रमणीयता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। बिहारी ने अर्थ की रमणीयता का ध्यान बराबर रखा है। इसीलिए उनके शब्दालंकार रसोद्रेक में सहायक होकर आते हैं।"

अर्थालंकार

बिहारी-सतसई में अर्थालंकारों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। इनमें भी साम्यमूलक यथा–उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति आदि तथा वैषम्य-मूलक तथा विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति आदि दोनों प्रकार के अलंकारों को अपनाया गया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

निम्नलिखित दोहे में **पूर्णोपमा** का सफल निर्वाह हुआ है। यहाँ नारी उपमेय है, नागिन उपमान, लौं वाचक शब्द तथा चिलक, चिकनई, चटक आदि साधारण धर्म हैं—

चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी साँवरी नागिन लौं डसि जाइ॥१९६॥

बिहारी की **उत्प्रेक्षाएँ** अत्यन्त सजीव हैं। उनमें सादृश्य-विधान का विशेष ध्यान रखा गया है, यथा—

---

१ **हिन्दी साहित्य**, पृ. ३३१।

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुरसरिता-विमलजल उछरत जुग मीन ॥५७६॥

सोहत ओढ़ै पीतु पटु स्याम, सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु परचौ प्रभात ॥६८६॥

संश्लिष्ट रूपकों के विधान में भी कवि को विशेष सफलता मिली है, यथा—

खौरि-पनिच भृकुटी-धनुषु बधिकु समरु, तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग तिलक-सर सुरक-भाल, भरि तानि ॥१०४॥

तौ लगु या मन-मदन मैं हरि आवैं किहिं बाट।
बिकट जटे जौ लगु निपट खुटैं न कपट-कपाट ॥३६१॥

बिहारी की अन्योक्तियाँ लोकानुभव पर आधारित होने के कारण सहज ग्राह्य एवं आकर्षक हैं—

नहिं पावसु, ऋतुराजु यह, तजि, तरवर, चित-भूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहै क्यौं नव दल, फल, फूल ॥४७४॥

कर लै सूँघि सराहि हूँ रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध, गुलाब कौ गँवईं गाहकु कौनु ॥६२४॥

निम्नलिखित दोहों में विरोधाभास का चमत्कार द्रष्टव्य है—

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहै, आँखैं लागति नाँहि ॥६२॥

तंत्री-नाद, कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥६४॥

विभावना, विशेषोक्ति एवं असंगति अलंकारों की योजना में भी कवि की उर्वर कल्पना देखने योग्य है—

विभावना—

अनियारे, दीरघ द्दगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ॥५८८॥

इसमें विशेषता यह है कि धनुष बिना प्रत्यंचा का है, लक्ष्य चंचल और बाण टेढ़ा, फिर भी निशाना अचूक है।

विशेषोक्ति—

लाल, तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप, अपार।
सरसैं बरसैं नीर हूँ, झर हूँ मिटै न झार ॥३६॥

विशेषोक्ति में कारण के रहते हुए भी कार्य का अभाव प्रदर्शित किया जाता

है। यहाँ (अश्रु) जल की वर्षा होने पर भी आग की लपट का शान्त न होना वर्णित है।

असंगति—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं; दई, नई यह रीति ॥३६३॥

असंगति अलंकार में कारण तथा कार्य का विरोध दिखाया जाता है। यहाँ दृगों के उलझने से परिवार के टूटने, चतुर चित्तों (नायक-नायिका के) में प्रेम होना तथा दुर्जनों के मन में गाँठ पड़ना परस्पर असंगत बातों को एक स्थान पर एकत्र किया गया है।

विषम—

लौनैं मुँह दीठि न लगै, यौं कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दियैं दिठौना, दीठि ॥२८॥

दृष्टि-दोष से बचने के लिए जिस दिठौने का आश्रय लिया गया वह उल्टा नजर लगाने वाला सिद्ध हुआ, यहाँ यही वैषम्य है।

बिहारी-सतसई से कुछ अन्य अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

भ्रान्तिमान—

पाइ महावरु दैंन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ ॥३५॥

स्मरण—

सघनकुंज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर।
मन ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर ॥६८१॥

परिकरांकुर—

मनमोहन सौं मोहु करि, तूं घनस्यामु निहारि।
कुंजबिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥६४१॥

व्यतिरेक—

कहत सबै, वेंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥३२७॥

यथासंख्य—

पति-रितु-औगुन-गुन बढ़तु मानु, माह कौ सीतु।
जातु कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी-मनु, नवनीतु ॥४१६॥

परिसंख्या—

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास ।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ॥७३॥

अर्थान्तरन्यास—

संगति-दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन ।
कुटिल-बंक-भ्रुव-सँग भए कुटिल, बंक-गति नैन ॥३०३॥

दृष्टान्त—

कहा भयौ, जौ बीछुरे, मो मनु तोमन-साथ ।
उड़ी जाउ कित हूँ, तऊ गुड़ी उड़ाइक-हाथ ॥५७॥

मीलित—

मिलि परछाँहीं जोन्ह सौं रहे दुहुनु के गात ।
हरि राधा इक संग हीं चले गली महिं जात ॥६७४॥

उन्मीलित—

मिलि चंदन बेंदी रही गोरैं मुँह न लखाइ ।
ज्यौं ज्यौं मद लाली चढ़ै, त्यौं त्यौं उघरति जाइ ॥

तद्गुण—

अधर धरत हरि कैं, परत ओठ-डीठि-पट-जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रधनुष-रँग होति ॥४२०॥

८

बिहारी का अप्रस्तुत-विधान

"किसी प्रस्तुत वस्तु अथवा उपमेय के सौन्दर्य, प्रभाव आदि गुणों की अनुभूति कराने के लिए कवि अप्रस्तुत अथवा उपमान की योजना करता है। कभी-कभी तो इस उपमान में केवल सादृश्य ही रहता है और कभी-कभी सादृश्य के साथ साधर्म्य भी हुआ करता है।"[1] बिहारी ने भी कार्य, वस्तु एवं व्यापारों के चित्रण में अप्रस्तुतों की सहायता ली है। उन्होंने रूप-सादृश्य के साथ-साथ प्रभाव-साम्य एवं साधर्म्य के आधार पर अप्रस्तुतों की योजना की है। कवि ने परम्परागत उपमानों के अतिरिक्त अप्रस्तुतों के चयन में मौलिकता का भी परिचय दिया है। अनेक उपमानों का चयन सामान्य जगत से किया गया है। अमूर्त के लिए मूर्त तथा मूर्त के लिए अमूर्त उपमानों की भी योजना की गयी है। कहीं-कहीं प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों ही अमूर्त हैं।

डॉ. हरवंशलाल शर्मा के अनुसार[2] बिहारी द्वारा प्रयुक्त उपमानों को निम्नलिखित पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. **प्राकृतिक उपमान**—प्राकृतिक वस्तुओं, दृश्य, पशु-पक्षी आदि से सम्बद्ध उपमान।

२. **लौकिक उपमान**—लौकिक वस्तुओं, विश्वासों तथा ज्ञान पर आधारित उपमान।

३. **शास्त्रीय उपमान**—ज्योतिष काव्यशास्त्र आदि से सम्बन्ध रखने वाले उपमान।

४. **पौराणिक उपमान**—पौराणिक कथाओं पर आधारित उपमान।

५. **अलौकिक उपमान**—कल्पित उपमान जो लोक में सम्भव नहीं।

(१) **प्राकृतिक उपमान**—ये उपमान अधिकतर परम्परागत हैं इनकी सूची बहुत लम्बी है जिसके अन्तर्गत कवि ने विविध पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष,

---

१ **बिहारी और उनका साहित्य**, पृ. २९७।

२ **बिहारी और उनका साहित्य**, पृ. ३००।

लता, पुष्प, आकाश, नक्षत्र, वायु आदि अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। यदि नायिका के शरीर को ही लें तो कवि ने उसे सोनजुही, मालती, चम्पा, केसर आदि के समान माना है। नीलम जड़ीहुई सींक नायिका की नाक में इस प्रकार सुशोभित है मानो भ्रमर चम्पे की कली पर बैठा निःशंक रस ले रहा हो—

जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाँक।
मनौ अली चंपक-कली बसु रसु लेतु निसाँक ॥१४३॥

नायिका की चिबुक पर सुन्दर श्याम वर्ण का गोदना ऐसा प्रतीत होता है मानो गुलाब पर मधु से ढका हुआ भ्रमर हो—

ललित स्याम लीला, ललन, बढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु-छाक्यौ मधुकरु परचौ मनौ गुलाब-प्रसून ॥२७०॥

नायिका का मुख चन्द्रमा के समान है और सितारों जड़ी चूनरी तारों भरे आकाश के समान है—

चुनरी स्याम सतार नभ, मुँह ससि की उनहारि।
नेहु दबावतु नींद लौं निरखि निसा सी नारि ॥३२६॥

इसी प्रकार नायक-नायिका के सौन्दर्य वर्णन एवं उनके अनेक क्रियाकलापों के लिए प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से उपमानों का चयन किया गया है।

(२) **लौकिक उपमान**—बिहारी-सतसई में लौकिक अप्रस्तुतों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। इनके अन्तर्गत राजा, नट, शिकारी, गुप्तचर, चोर, बटमार, कज्जाक, मलंग, सूम आदि मानववर्गीय अप्रस्तुत लिये गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य लौकिक अप्रस्तुतों में दूध, गुड़, नमक, दर्पण, नेजा, शर, काँटा, लगाम, खुरी, पायंदाज, अरहर, कपूर आदि को अपनाया गया है। प्रिय के नेत्र चित्त रूपी वित्त को जबरदस्ती चुरा लेते हैं। वे सावधान के लिए बटमार तथा जागरूक के लिए चोर के समान हैं—

चितु बितु बचतु न, हरत हठि लालन-दृग बरजोर।
सावधान के बटपरा ए, जागत के चोर ॥१७४॥

मोहन के रूप-लावण्य में नायिका का मन उसी प्रकार घुलमिल गया है जैसे पानी में नमक मिल जाता है—

कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।
भो मन मोहन-रूपु मिलि पानी मैं कौ लौनु ॥१८॥

दृगों के पगों को पोंछने के लिए नायिका के आभूषण पायंदाज का कार्य कर रहे हैं—

मानहु बिधि तन-अच्छछबि स्वच्छ राखिबै काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज ॥४१३॥

(३) **शास्त्रीय उपमान**—बिहारी बहुज्ञ थे अतः उनकी सतसई में विविध शास्त्रों का भी उल्लेख हुआ है। शास्त्रीय अप्रस्तुत विशेष रूप से ज्योतिष, आयुर्वेद तथा गणित आदि शास्त्रों से गृहीत हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार मंगल, चन्द्रमा तथा वृहस्पति यदि एक नाड़ी पर आ जायँ तो घोर वर्षा होती है। निम्नलिखित दोहे में रूपक द्वारा इन्हीं का उल्लेख हुआ है—

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥४२॥

विषम-ज्वर में सुदर्शन चूर्ण के उपयोग का सुझाव दिया गया है—

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयैं आइ सुदरसनु देहु ॥१२०॥

नायिका की कुटिल अलक की तुलना बंक बकारी से की गयी है—

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु।
बंक बकारी देत ज्यों दामु रुपैया होतु ॥४४२॥

(४) **पौराणिक उपमान**—बिहारी-सतसई में पौराणिक उपमान इने-गिने ही हैं, यथा—विरह की अवधि का पांचाली के चीर की भाँति बढ़ते जाना—

रह्यौ ऐंचि, अन्तु न लहै अवधि-दुसासनु बीरु।
आली, बाढ़तु बिरहु ज्यौं पंचाली कौ चीरु ॥४००॥

पौराणिक गाथा के अनुसार प्रसिद्ध है कि दुर्योधन को यह शाप था कि समान सुख-दुख का अनुभव होने पर उसकी मृत्यु हो जायगी। निम्नलिखित दोहे में इसी की ओर संकेत है—

पिय-बिछुरन कौ दुसहु दुखु, हरषु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार ॥१५॥

(५) **अलौकिक उपमान**—इस प्रकार के उपमानों की योजना अधिकांशतः प्रभाव-साम्य के आधार पर की गयी है। इनमें विशेष रूप से उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया गया है। ये अप्रस्तुत असम्भव होते हुए भी पाठकों की कल्पना से नितान्त दूर नहीं हैं। निम्नलिखित दोहे में नीलमणि के पर्वत की कल्पना की गयी है जो लोक में सम्भव नहीं है—

सोहत ओढैं पीतु पटु स्याम, सलौनै गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु पर्यौ प्रभात ॥६८६॥

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में सिन्धु के लौकिक होते हुए भी उसमें सुरतरू की सपल्लव डाल का होना अलौकिक है—

झीनैं पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसति सपल्लव डार ॥१६॥

विहारी ने मूर्त के लिए अमूर्त तथा अमूर्त के लिए मूर्त अप्रस्तुतों की भी योजना की है—

मूर्त के लिए अमूर्त उपमान

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी, सारी सेत।
कवि-आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत ॥१८८॥

यहाँ मूर्त कुचों के लिए अमूर्त 'अर्थ' की योजना की गयी है।

अमूर्त के लिए मूर्त उपमान

लाज-लगाम न मानहीं, नैंना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥६१०॥

इस दोहे में अमूर्त लज्जा के लिए मूर्त 'लगाम' उपमान का प्रयोग हुआ है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बिहारी ने विभिन्न अप्रस्तुतों के विधान में विविध प्रकार के उपमानों की योजना की है। ये अप्रस्तुत लौकिक, अलौकिक, प्राकृतिक, शास्त्रीय तथा पौराणिक सभी प्रकार के हैं। अप्रस्तुतों का चयन करते समय उन्होंने रूप, रंग, गुण, भाव तथा आकृति का विशेष ध्यान रखा है। इनके आधार पर शृंगार रस के विविध पक्षों के उद्घाटन में उन्हें विशेष सफलता मिली है।

९
बिहारी की बहुज्ञता

कवि को सर्वज्ञ तथा द्रष्टा माना गया है। श्रुति के अनुसार 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' कवि परम बुद्धिमान, विचारशील, सर्वत्र व्याप्त एवं स्वनिर्मित होता है। उसकी गति सर्वत्र होती है तथा अपनी अनुभूति के लिए वह किसी के प्रति ऋणी नहीं है। कवि मात्र काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन, अनुशीलन कर अपनी जानकारी नहीं बढ़ाता बल्कि आवश्यक सामग्री-संकलन हेतु वह लोक में भी आँखें खोलकर चलता है। बहुज्ञता प्राप्ति के लिए वह जीवन-जगत् के अलौकिक अन्तर्वाह्य सभी तत्वों की जानकारी प्राप्त करता है। जब तक किसी कवि में बहूलता न होगी तब तक उसका काव्य प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य मम्मट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **'काव्यप्रकाश'** में इसी सत्य की स्थापना करते हुए कहा है—

शक्तिर्निपुणता ल्यैकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुखवे॥[१]

अर्थात् काव्य-रचना के लिए शक्ति (प्रतिभा); निपुणता, लोक एवं शास्त्र का अनुभव और निरीक्षण तथा काव्यज्ञ के उपदेशानुसार अभ्यास की आवश्यकता है। बिहारी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्हें लोक-व्यवहार एवं शास्त्र का व्यापक ज्ञान था। उनके दोहों में उनकी विस्तृत जानकारी का परिचय मिलता है। हम यह तो नहीं कहते कि वे ज्योतिष, वैद्यक, गणित आदि के पण्डित थे, पर उन्हें इनकी सम्यक् जानकारी अवश्य थी। निम्नलिखित अध्ययन के आधार पर उनके व्यापक लोक एवं शास्त्र ज्ञान की पुष्टि होती है।

(१) **साहित्यशास्त्र के ज्ञाता**—बिहारी ने यद्यपि किसी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की किन्तु उनके काव्य पर रस, अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति आदि का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। विभिन्न प्रकार के नायक नायिकाओं के भेद, नखशिख वर्णन तथा ऋतुवर्णन आदि के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता

---

१ **काव्यप्रकाश**, १/३।

है कि वे साहित्यशास्त्र के पण्डित थे यहाँ तक कि उन्होंने शृंगार-वर्णन में साहित्य शास्त्र के क्षेत्र से उपमानों का चयन किया है, यथा—

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी, सारी सेत ।
कवि-आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत ॥१८८॥

(२) **ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता**—बिहारी-सतसई में ऐसे अनेक दोहे हैं जिनमें ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है जिससे उनके ज्योतिष ज्ञान का परिचय मिलता है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

सनि-कज्जल चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु ।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देह ॥५॥

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि केसरि-आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥४२॥

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥४२॥

(३) **गणितशास्त्र के ज्ञाता**—बिहारी ने अनेक दोहों में गणित जैसे नीरस विषय को सरसता के आवरण में प्रस्तुत किया है, यथा—

कहत सबै, बेंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु ।
तिय-लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥३२७॥

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु ।
बंक बकारी देत ज्यौं दामु रुपैया होतु ॥४४२॥

(४) **वैद्यक ज्ञान**—बिहारी-सतसई के कुछ दोहों में वैद्यक की भी चर्चा हुई है, यथा निम्नलिखित सोरठे और दोहे हैं—

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह ।
वहई रोग-निदानु, वहै बैदु, औषधि वहै ॥५५७॥

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु ।
जरी विषम जुर जाइयैं आइ सुदरसनु देहु ॥१२०॥

(५) **दर्शनशास्त्र विषयक जानकारी**—भारत में दर्शनशास्त्र जनसमाज के बीच तक विस्तृत है । बिहारी के अनेक दोहों में दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है । ब्रह्म के विषय में वे कहते हैं—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ॥१८१॥

जगतु जनायो जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि ।
ज्यौं आँखिनु सब देखियै, आँखि न देखी जाँहि ॥४१॥

(६) **नीतिशास्त्र-विशारद**—भारतीय जनजीवन में नीति-विषयक उक्तियों की भी प्रधानता रही है। बिहारी ने भी अपने दोहों में इसका समुचित उपयोग किया है जिससे वे नीति-शास्त्र के ज्ञाता प्रतीत होते हैं, यथा—

नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ॥३२१॥

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगंध ॥२२८॥

निम्नलिखित दोहे में वे नीति-परक उपदेश देते हुए कहते हैं—

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियैं धनु जोरि।
खाऐं खरचैं जौ जुरैं, तौ जोरियै करोरि ॥४८१॥

(७) **राजनीति-विषयक जानकारी**—बिहारी एक दरबारी कवि थे। अतः राजनीति से उनका निकट सम्पर्क था। निम्नलिखित दोहे में वे दुहरी शासन व्यवस्था के दोषों का उल्लेख करते हैं—

दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि-चंदु ॥३५७॥

(८) **पौराणिक उल्लेख**—बिहारी-सतसई के अनेक दोहों में पौराणिक कथा-प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं जिनसे उनके पौराणिक ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। निम्नलिखित दोहों में रामायण तथा महाभारत से उपमान ग्रहण किये गये हैं—

बसि, सकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखावति बाल।
सियलौं सोधति तिय तनहिं लगनि-अगनि की ज्वाल ॥७४॥

बिरह-बिथा-जल-परस-बिन बसियतु मो-मन-ताल।
कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुर्जोधन लौं, लाल ॥४१४॥

(९) **कृषि-विषयक जानकारी**—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में कुछ समय पूर्व तक जबकि नागरिक सभ्यता का घटाटोप नहीं छाया था, कृषि के सम्बन्ध में जनसाधारण को भी पर्याप्त जानकारी रहती थी। बिहारी भी इससे अवश्य अवगत रहे होंगे। निम्नलिखित दोहे में सन, कपास एवं ईख के खेत कट जाने पर भी अरहर के खड़े खेतों का उल्लेख हुआ है—

सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजैं, धरि धरहरि जिय, नारि ॥१३५॥

१०

बिहारी की मुक्तक-कला

श्रव्य-काव्य के दो भेद माने गये हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध काव्य में कथा-शृंखला निरन्तर चलती रहती है, उसमें एकसूत्रता रहती है तथा एक छन्द दूसरे से संबद्ध रहता है जबकि मुक्तक रचना पूर्वापर प्रसंग से सर्वथा मुक्त होती है। "मुक्त रचना से तात्पर्य ऐसी रचना से है जो रसास्वादन में पूर्वापर अन्य छन्द की मुखापेक्षी न होकर स्वतः समर्थ हो।"[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"[२]

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त[३] ने मुक्तक-काव्य के निम्नलिखित गुण बताए हैं—

(१) कवि ने ऐसे विषयों, प्रसंगों एवं भावनाओं का चयन किया हो जो रस-निष्पत्ति की क्षमता रखते हों।

(२) कवि की शैली में ऐसी सजीवता एवं मार्मिकता हो कि वह छोटी से छोटी बात को भी मार्मिक बना सके।

(३) मुक्तककार में कल्पना की समाहार-शक्ति होनी चाहिए।

(४) भाषा-शैली में समास का गुण होना चाहिए।

(५) कवि को व्यंग्य-प्रयोग में दक्षता प्राप्त होनी चाहिए।

(६) भाषा में कोमलता, सरसता और प्रवाह का गुण होना चाहिए।

(७) शब्द-योजना में नाद-सौन्दर्य भी हो, तो अच्छा है।

डॉ. गुप्त द्वारा उल्लिखित मुक्तक की सभी विशेषताएँ बिहारी-सतसई में देखने को मिलती हैं। यहाँ क्रमशः इन पर विचार किया जा रहा है—

---

१ पूर्वापर निरपेक्षणादि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। (ध्वन्यालोक)

२ **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ. २४७।

३ **बिहारी-सतसई : वैज्ञानिक व्याख्या**, पृ. १२३।

(१) सामान्यतया मुक्तक छन्दों में रस परिपाक में बाधा पड़ती है। विशेष रूप से दोहा जैसे लघु आकार वाले छन्द में विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का सम्यक् निर्वाह कठिन होता है। अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार रस में इनके सभी अवयव न होने पर भी रस की व्यंजना हो जाती है। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार "प्रेम के क्षेत्र में आलम्बन के सौन्दर्य की एक झलक, उसकी एक चेष्टा या आश्रय की कोई मनोदशा उसकी एक उक्ति—इनमें से किसी एक के चित्रण से ही पाठक के हृदय को झंकृत किया जा सकता है। अतः शृंगार रस को प्रमुखता प्रदान करके बिहारी ने उचित ही किया।" रस परिपाक में समर्थ बिहारी-सतसई से कुछ दोहे उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ ॥४७२॥

प्रीतम-दृग-मिहचत प्रिया पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति जनाइ ॥४२२॥

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में भी कवि ने ऐसे प्रसंगों का चयन किया है जहाँ भावुक सहृदय रस की अनुभूति में समर्थ होते हैं। हास्य-रस के प्रसंग में निम्नलिखित दोहा प्रस्तुत किया जा सकता है—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू हँसि भेद सौं रही नाह-मुँह चाहि ॥४७९॥

(२) शैली की सजीवता एवं मार्मिकता मुक्तक-रचना का प्रधान गुण है। निम्नलिखित दोहे में खंडिता नायिका की उक्ति कितनी मार्मिक एवं सजीव है—

वाल, कहा लाली भई लोइन-कोइनु माँह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छाँह ॥१६८॥

(३) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है "जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्त-रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी।" इसी गुण के कारण सतसई के दोहों को नावक के तीर कहा गया है, जो देखने में छोटे लगते हैं किन्तु गम्भीर घाव (हृदय के अन्तरतम का स्पर्श) करते हैं—

सतसइया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर॥

निम्नलिखित दोहे में प्रिय के विदेश-गमन के समाचार मात्र से नायिका के नेत्रों में आँसू आने तथा उन्हें छिपाने के लिए जँभाई लेने का चित्र देखिए—

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं हीं जमुहाइ ॥३५८॥

इसी प्रकार निम्नलिखित उदाहरण में नेत्रों के प्रभाव-वैविध्य का चित्रण एक ही दोहे में समाविष्ट कर कवि ने कल्पना की समाहार-शक्ति का अच्छा निदर्शन किया है—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकटु, बनमाल ॥१५४॥

(४) भाषा-शैली में समास-गुण भी मुक्त-रचना के लिए आवश्यक है। दोहे का आकार छोटा होता है। अतः उसके लिए यह और भी आवश्यक है। कवि-वर रहीम के अनुसार दोहे में थोड़े अक्षरों में दीर्घ अर्थ का आधान रहता है—

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहिं।
ज्यौं रहीम नट कुंडली सिमिट पार कर जाहिं॥

भाषा की इस समास-शक्ति के दर्शन बिहारी-सतसई के अनेक दोहों में होते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहे में कवि ने प्रेमी-प्रेमिका के विभिन्न क्रिया-व्यापार एक छोटे से दोहे में संजो दिये हैं—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात ॥३२॥

(५) मुक्तक-रचना का पाँचवाँ गुण व्यंग्य प्रयोग की प्रधानता है। व्यंग्य एवं उक्ति-वैचित्र्य बिहारी की अपनी विशेषता है। शृंगार रस के साथ-साथ भक्ति विषयक दोहों में उनके इस गुण का अच्छा विकास हुआ है, यथा—

थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आजकाल्हि के दानि ॥६८॥

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौं बाँधैं ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु ॥२६१॥

(६) मुक्तकों की भाषा कोमल, सरस तथा प्रवाहमय होनी चाहिए। सतसई के अनेक दोहे भाषा के इस गुण से युक्त हैं। उदाहरणार्थ दो दोहे प्रस्तुत हैं—

को कहि सकै बड़ेनु सौं लखैं बड़ीयौ भूल।
दीने दई गुलाब की इन डारनु वे फूल ॥४३१॥

कर लै, सूँघि सराहि हूँ रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध गुलाब कौ गँवई गाहकु कौनु ॥६२४॥

(७) मुक्तक-काव्य की सफलता का एक गुण उसका नाद-सौन्दर्य है। बिहारी

सतसई से ऐसे अनेक दोहे प्रस्तुत किये जा सकते है जिनमें नाद-सौन्दर्य विद्यमान है, यथा—

रनित भृंग-घंटावली, झरति दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु ॥३८८॥

उपर्युक्त-विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मुक्तकार के रूप में बिहारी एक सफल कवि हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "मुक्तक कविता में जो गुण होने चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।"[१]

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. २४७।

११

बिहारी का प्रकृति-चित्रण

मानव का प्रकृति से पुरातन एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः काव्य में भी उसे उचित स्थान प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद में प्रकृति की छटा बिखरी हुई है। संस्कृत-साहित्य में प्रकृति अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हुई है। हिन्दी के आदि तथा मध्य काल में प्रकृति को काव्य में उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ। इन कालों में प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन बहुत कम मिलता है। रीति-काल में अलंकारों तथा उक्ति-वैचित्र्य को ही अधिक महत्व प्राप्त हुआ अतः प्रकृति का उपयोग भी उद्दीपन एवं अलंकार-प्रदर्शन के रूप में हुआ। सेनापति जैसे एक दो कवि इसके अपवाद माने जा सकते हैं। बिहारी ने भी अपने युग की प्रवृत्ति को अपनाया तथापि प्रकृति के कुछ सुन्दर चित्र उनके काव्य में देखने को मिलते हैं।

बिहारी-सतसई में प्रकृति का एक आलम्बन रूप में चित्रण विरल है। निम्न-लिखित दोहे में अवश्य प्रकृति का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है—

छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर झौंर मधु अंध॥

इस दोहे में यद्यपि वसन्त ऋतु के उद्दीपक रूप की ओर संकेत है तथापि दृश्यगत सजीवता तथा स्वाभाविकता का यथातथ्य चित्रण हुआ है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में ग्रीष्म की भयंकरता का उल्लेख हुआ है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग, बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥४८६॥

निम्नलिखित दोहे में मानवीय व्यापारों एवं भावों से युक्त दक्षिणपवन का चित्र दर्शनीय है—

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ॥३९०॥

प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत बिहारी ने सभी ऋतुओं का वर्णन किया है किन्तु उनमें ऋतुओं के यथातथ्य चित्रण की अपेक्षा उद्दीपन रूप एवं आलं-

कारिकता की प्रधानता है। यहाँ उनके ऋतु-वर्णन सम्बन्धी दोहों से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

वसन्त-वर्णन—

सभी ऋतुओं में वसन्त को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है। उसे ऋतुराज कहा गया है। संयोगावस्था में जहाँ यह सुखकारक है वहीं वियोगावस्था में यह अत्यन्त कष्टदायक भी है। वसन्त ऋतु में वन उपवन में खिले हुए फूल ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वियोगिनी के लिए वाणों का पिंजड़ा तैयार किया गया है—

दिसि दिसि कुसुमित देखियत उपबन-बिपिन-समाज।
मनहुँ बियोगिनु कौं कियौ सर-पंजर रितु राज ।।४७६।।

फूला हुआ पलाशवन पथिक को दावाग्नि के समान प्रतीत होता है—

फिरि घर कौं नूतन पथिक चले चकित-चित भागि।
फूल्यौ देखि पलासु बन, समुही समुझि दवागि ।।५९७।।

इसी ऋतु में मदमत्त बनाने वाला होली का उत्सव भी आता है। इस अवसर पर गुलाल की मूठों के छूटने के साथ-साथ प्रेमी जनों की लोक-लज्जा छूट गयी है और गुलाल लगने के साथ-साथ उनके मन भी मिल गये हैं—

छुटत मुठिनु सँग हीं छुटी लोक-लाज, कुल-चाल।
लगै दुहुनु इक बेरै ही चल चित, नैंन गुलाल ।।३५२।।

प्रिय के हाथ से नायिका की आँख में जो गुलाल पड़ गया है वह भी नायिका को प्रिय प्रतीत होता है। पीड़ा बढ़ने पर भी वह उससे निकालते नहीं बनता—

दियौ जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फाग-खियालु।
बाढ़त हूँ अति पीर सु न काढ़त बनतु गुलालु ।।२८०।।

ग्रीष्म-वर्णन

कवि ने ग्रीष्म पर चेतना का आरोप किया है और ग्रीष्म ऋतु रूपी नायिका को वसन्त रूपी नायक के विरह में उच्छ्वास लेते हुए दिखाया है—

नाहिंन ए पावक-प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु बिरह बसंत के ग्रीषम लेत उसास ।।४८८।।

ज्येष्ठ मास की दुपहरी में छाया भी छाया की कामना करती है इसीलिए तो मध्याह्न के समय वृक्षों की छाया ठीक उसके नीचे आ गयी है—

बैठि रही अति सघन बन, बैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह ।।५२।।

पावस ऋतु

श्रृंगार-रस के कवियों ने वसन्त के समान ही पावस को भी अधिक महत्व

दिया है। पावस के समय वियोगी जनों की विरह-वेदना उद्दीप्त हो उठती है। बिहारी की नायिका को भी पावस का प्रथम पयोद (बादल) संसार को जलता हुआ-सा प्रतीत होता है—

धुरवा होहिं न, अलि, उठै धुआँ धरनि-चहुँकोद।
जारत आवत जगत कौं पावस-प्रथमपयोद ॥५४६॥

नायिका को आग की लपट की अपेक्षा मेघ की झड़ी अधिक जलाने वाली प्रतीत होती है क्योंकि उसके (आग के) तो स्पर्श से शरीर जलता है किन्तु इसके तो देखने मात्र से वियोगाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है—

पावक-झर तैं मेह-झर दाहक दुसह बिसेखि।
दहै देह वाकै परस, याहि दृगनु हीं देखि ॥४०२॥

पावस ऋतु में हिंडोले का अपना महत्व है। कवि ने इसका वर्णन किया है। इसमें भी शृंगार का पुट विद्यमान है। हिंडोले रूपी आकाश से परी के समान नीचे आती हुई (गिरती हुई) नायिका को दौड़कर नायक बीच में ही थाम लेता है—

हेरि हिंडोरैं गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं, करी खरी रस लूटि ॥६६॥

वर्षा ऋतु में घने अन्धकार के कारण रात्रि तथा दिन की जानकारी चकई चकवों को देखकर होती है—

पावस-घन-अँधियार महि रह्यौ भेद नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई चकवानु ॥४८६॥

शरद्-वर्णन

बिहारी ने शरद् का वर्णन एक सुन्दरी के रूप में किया है। लाल कमल उसके हाथ पैर हैं, आँखें खंजन पक्षी तथा मुख चन्द्रमा है। यह शरद रूपी सुन्दरी सभी को आनन्द देने वाली ही है—

अरुनसरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।
समै आइ सुन्दरि सरद काहि न करत अनंद ॥४८७॥

यहाँ यह दृष्टव्य है कि शरद् ऋतु में कमल खिल जाते हैं, खंजन पक्षी विचरण करते हैं तथा चन्द्रमा की शोभा में वृद्धि हो जाती है। निम्नलिखित दोहे में कवि ने शरद् को शूरवीर राजा के रूप में चित्रित किया है—

घन-घेरा छुटि गौ, हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियौ सुचैनौ आइ जगु सरद-सूरनरनाह ॥४८५॥

हेमन्त-वर्णन

बिहारी ने हेमन्त ऋतु का वर्णन उद्दीपन के रूप में किया है। अगहन मास ने सभी को काम के वशीभूत कर दिया है। इस मास में कामदेव को अपना धनुष बाण उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती—

किये सबै जगु काम-बस, जीते जिते अजेइ।
कुसुमसरहिं सर धनुष कर अगहनु गहन न देइ ।।४६५।।

पूस के महीने में सूर्य तेज विहीन होकर शीतल हो गया है। वह आते जाते हुए कुछ मालूम ही नहीं होते—

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घटचौ खरौ पूस-दिन-मानु ।।१७१।।

शिशिर-वर्णन

शिशिर ऋतु की सर्दी बिना नारी-पुरुष के आलिंगन के, सूर्य की धूप, अग्नि के ताप अथवा भारी रजाई से समाप्त नहीं होती—

तपन-तेज, तपु-ताप तपि, अतुल तुलाई माँह।
सिसिर-सीतु क्यौं हुँ न कटै बिनु लपटैं तिय नाँह ।।३४३।।

माघ मास में सूर्य की किरणें इतनी शीतल हो जाती हैं कि दिन में ही रात्रि का सुख मिलने लगता है यहाँ तक कि चकोरी चन्द्रमा के भ्रम से सूर्य की ओर निहारने लगती है—

लगत सुभग सीतल किरन, निसि-सुख दिन अवगाहि।
माह ससी-भ्रम सूर-त्यौं रहति चकोरी चाहि ।।३४२।।

बिहारी ने प्रकृति का आलंकारिक वर्णन भी किया है, यथा, निम्नलिखित दोहे में उत्प्रेक्षा के माध्यम से पीताम्बर ओढ़े हुए श्रीकृष्ण को धूप से आच्छादित नीलमणि की चोटी के रूप में बताया गया है—

सोहत ओढैं पीतु पटु स्याम, सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु परचौ प्रभात ।।६८९।।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में प्रकृति के क्षेत्र से सुन्दर अप्रस्तुतों का चयन किया गया है—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुरसरिता-विमलजल उछरत जुग मीन ।।५७६।।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि बिहारी के प्रकृति-वर्णन में उद्दीपन की प्रधानता है। उस पर उस युग में प्रचलित वैचित्र्य की प्रवृत्ति की छाप है।

कुछ दोहों में प्रकृति आलम्बन के रूप में भी उभर कर आयी है। मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण बिहारी की अनूठी उपलब्धि है। उन्होंने कहीं ग्रीष्म को उच्छ्वास लेते हुए दिखाया है,[१] कहीं दोपहरी को छाया ढूँढ़ते हुए[२] और कहीं शरद की सुन्दरी[३] के रूप में कल्पना की है। मन्द-मन्द प्रवाहित होने वाले दक्षिण पवन को उन्होंने पथिक के रूप में चित्रित किया है[४] तथा कुंज-वायु को कुंजर के रूप में।[५] डॉ. रामसागर त्रिपाठी के शब्दों में "बिहारी को प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता मानवीकरण सम्बन्धी दोहों में मिली है। जो विद्वान् हिन्दी काव्य में प्रकृति की मानवीकरण परम्परा का प्रारम्भ पाश्चात्य प्रभाव से छायावादी काव्य के उदय के साथ मानते हैं वे बिहारी के इन दोहों को देखें।"[६]

—डॉ. रामस्वरूप आर्य

१ बिहारी रत्नाकर, दोहा सं. ४८८।
२ बिहारी रत्नाकर, दोहा सं. ४८७।
३ बिहारी रत्नाकर, दोहा सं. ५२।
४ बिहारी रत्नाकर, दोहा सं. ३९०।
५ बिहारी रत्नाकर, दोहा सं. ३८८।
६ बिहारी-मीमांसा, पृ. ३२४।

संकलन

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित-दुति होइ ॥१॥

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसौ, बिहारीलाल ॥२॥

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होतु प्रयागु ॥३॥

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥४॥

नितप्रति एकत हीं रहत, बैस-बरन-मन एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन-जुगल अनेक ॥५॥

नाचि अचानक हीं उठे बिनु पावस बन मोर।
जानति हौं नंदित करी यह दिसि नंदकिसोर ॥६॥

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धर्‍यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान ॥७॥

सोहत ओढ़ैं पीत पटु स्याम, सलौनैं गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु पर्‍यौ प्रभात ॥८॥

अधर धरत हरि कैं, परत ओठ-डीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्रधनुष-रँग होति ॥९॥

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता-रंग ॥१०॥

इक भीजैं, चहलैं परैं, बूड़ैं, बहैं हजार।
किते न औगुन जग करैं, बै-नै चढ़ती बार ॥११॥

अपने अँग के जानि कै, जोबन-नृपति नवीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब कौ बड़ौ इजाफा कीन ॥१२॥

खेलन सिखए, अलि भले चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार ॥१३॥

सायँक-सम मायक नयन, रँगे त्रिबिध रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जातजल, लखि जलजात लजात ॥१४॥

जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता काननु सेवत नैन ॥१५॥

झूठे जानि न संग्रहे मन मुँह-निकसे बैन।
याही तैं मानहु किये बातनु कौं बिधि नैन ॥१६॥

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं, नैननु हीं सब बात ॥१७॥

संगति-दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-बंक-भुव-सँग भए कुटिल, बंक-गति नैन ॥१८॥

लीनौं हूँ साहस सहसु, कीनैं जतन हजारु।
लोइन लोइन-सिंधु तन पैरि न पावत पारु ॥१९॥

हरि-छबि-जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूढ़त तरत रहँट घरी लौं नैन ॥२०॥

नेह न नैनन कौं कछू, उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ ॥२१॥

नैना नैंक न मानहीं, कितौ कह्यौ समुझाइ।
तनु मनु हारैं हूँ हँसैं, तिन सौं कहा बसाइ ॥२२॥

बहके सब जिय की कहत, ठौरु कुठौरु लखैं न।
छिन औरै छिन और से, ए छबि छाके नैन ॥२३॥

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥२४॥

इन दुखिया अँखियानु कौं सुख सिरज्यौई नाहिं।
देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलाहिं ॥२५॥

लखि, लोने लोइननु कैं कोइनु, होइ न आजु।
कौनु गरीबु निवाजिबौ, कित तूठ्यौ रति राजु ॥२६॥

नँख सिख रूप भरे खरे, तउ माँगत मुसकानि।
तजत न लोचन लालची ए ललचौहीं बानि ॥२७॥

तिय, कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौंह-कमान।
चलचित-बेझै चुकति नहिं, बंक बिलोकनि-बान ॥२८॥

अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ॥२९॥

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता विमल जल उछरत जुग मीन ॥३०॥

बेसरि मोती-दुति झलक परी ओठ पर आइ।
चूनौ होइ न चतुर तिय, क्यौं पट पोंछ्यौ जाइ ॥३१॥

बेसरि-मोती, धनि तुहीं, को बूझै कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ कौ रसु निधरक दिन राति ॥३२॥

लसुत सेतसारी ढप्यौ, तरल तर्यौना कान।
पर्यौ मनौ सुरसरि सलिल रबि-प्रतिबिंबु बिहान ॥३३॥

लौनैं मुँहुँ दीठि न लगै, यौं कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दियैं दिठौना, दीठि ॥३४॥

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ॥३५॥

ज्यौं ज्यौं जोबन-जेठ दिन कुच मिति-अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि-छपा छीन परति नित जाति ॥३६॥

पाइ महावरु दैन कौ नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ ॥३७॥

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी, सारी सेत।
कबि-आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत ॥३८॥

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ॥३९॥

मानहु बिधि तन अच्छ छबि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज ॥४०॥

सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि देत ।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन-जोति ॥४१॥

अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग ।
नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कैं संग ॥४२॥

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि केसरि आड़ गुरू ।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥४३॥

तन भूषन अंजन दृगनु, पगनु महावर-रंग ।
नहिं सोभा कौं साजियतु, कहिबैं हीं कौं अंग ॥४४॥

पहिरत ही गोरैं गरैं यौं दौरी दुति, लाल ।
मनो परसि पुलकित भई बौलसिरी की माल ॥४५॥

अंग-अंग नग जगमगत, दीपसिखा सी देह ।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ गेह ॥४६॥

डीठि न परतु समान-दुति कनकु कनक सैं गात ।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात ॥४७॥

अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन सैं सब गात ।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात ॥४८॥

रंग न लखियति पहिरि यौं कंचन सैं तन बाल ।
कुँभिलानैं जानी परै उर चंपक की माल ॥४९॥

भूषन-भारू सँभारि है क्यौं यह तन सुकुमार ।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा हीं कैं भार ॥५०॥

छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियैं गुलाब कैं झँवा झँवैयत पाइ ॥५१॥

कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि ।
रूप-रहचटैं लगि लग्यौ माँगन सबु जगु आनि ॥५२॥

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ ॥५३॥

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥५४॥

सनि कज्जल चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु ।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु ।।५५।।

कीनै हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौन ।
भो मन मोहन-रूप मिलि पानी मैं कौ लौनु ।।५६।।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ।।५७।।

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकहि मुँह दीन ।
जौ लहियै सँग सजन, तौ धरक नरक हूँ कीन ।।५८।।

को जानै ह्वै है कहा, ब्रज उपजी अति आगि ।
मन लागै नैननु लगैं, चलै न मग लगि लागि ।।५९।।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन-हियै, दई नई यह रीति ।।६०।।

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-विपाकु ।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छबि-छाकु ।।६१।।

लोभ लगे हरि-रूप के, करी साँटि जुरि जाइ ।
हौं इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ ।।६२।।

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति ।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवहि फिरि जाति ।।६३।।

चकी जकी सी ह्वै रही, बूझैं बोलति नीठि ।
कहूँ डीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि ।।६४।।

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि ।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि ।।६५।।

उरु उरझ्यौ चितचोर सौं, गुरु गुरुजन की लाज ।
चढ़ैं हिंडोरैं सैं हियैं कियैं बनै गृह-काज ।।६६।।

लाल, तुम्हारे रूप की, कहौ रीति यह कौन ।
जासौं लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न ।।६७।।

देखौं जागत वैसियै साँकर लगी कपाट ।
कित ह्वै आवतु, जातु भजि, को जानै किहिं बाट ।।६८।।

उनकौ हितु उनहीं बनै, कोऊ करौ अनेकु।
फिरतु काक गोलकु भयौ दुहूँ देह ज्यौं एकु ॥६९॥

क्यौं बसियै क्यौं निबहियै नीति नेह-पुर माँहि।
लगालगी लोइन करैं, नाहक मन बँधि जाँहि ॥७०॥

जद्यपि सुन्दर, सुघर, पुनि सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो, भरियै जितो सनेह ॥७१॥

अलि इन लोइन-सरनु कौ खरौ विषम संचारु।
लगैं लगाएँ एक से दुहूँन करत सुमारु ॥७२॥

जौ लौं लखौं न कुल-कथा तौ लौं ठिक ठहराइ।
देखैं आवत देखि हीं, क्यौं हूँ रह्यौ न जाइ ॥७३॥

चितु बितु बचतु न, हरत हठि लालन-दृग बरजोर।
सावधान के बटपरा ए, जागत के चोर ॥७४॥

फिरि फिरि बूझति, कहि कहा कह्यौ साँवरे गात।
कहा करत देखे, कहाँ; अली, चली क्यौं बात ॥७५॥

चिलक, चिकनई चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ॥७६॥

सहित सनेह, सकोच, सुख, स्वेद, कंप, मुसकानि।
प्रान पानि करि आपने, पान धरे मो पानि ॥७७॥

तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी-समान ॥७८॥

देखत कछु कौतिगु इतै, देखौ नैंक निहारि।
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिनु फारि ॥७९॥

मैं तोसौं कै वा कह्यौ, तू जिन इन्हैं पत्याइ।
लगालगी करि लोइननु उर मैं लाई लाइ ॥८०॥

जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ बलि, नैंक बिलोकियै चलि अचकाँ चुपचापु ॥८१॥

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
बिरह-ज्वाल जरिबो लखै मरिबौ भई असीस ॥८२॥

नैंक न जानी परति, यौं पर्‌यौ बिरह तनु छामु
उठति दियैं लौं नाँदि हरि, लियैं तिहारौ नामु ॥८३॥

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकुट बनमाल ॥८४॥

कोरि जतन कीजै, तऊ नागर-नेहु दुरै न।
कहैं देत चितु चीकनौ नई रुखाई नैन ॥८५॥

मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल ॥८६॥

चितु दै देखि चकोर-त्यौं, तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख ॥८७॥

रही अचल सी ह्वै, मनौ लिखी चित्र की आहि।
तजैं लाज, डरु लोक कौ, कहौ बिलोकहि काहि ॥८८॥

हित करि तुम पठयौ, लगैं वा विजना की बाइ।
टरी तपन तन की तऊ चली पसीना न्हाइ ॥८९॥

नाउँ सुनत हीं ह्वै गयौ तनु औरै, मनु और।
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यौ अबै चड़ाऐं त्यौर ॥९०॥

मोंहि भरोसौ, रीझिहै उझकि झाँकि इक बार।
रूप-रिझावनहारु वह, ए नैना रिझवार ॥९१॥

कालबूत दूती बिना, जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैं टारैं बनै पाकैं प्रेम-लदाइ ॥९२॥

निसि अँधियारी नील पटु पहिरि चली पिय-गेह।
कहौ, दुराई क्यौं दुरै दीप-सिखा सी देह ॥९३॥

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ॥९४॥

दोऊ चाह-भरे कछू चाहत कह्यौ, कहैं न।
नहिं, जाँचकु सुनि, सूम लौं बाहिर निकसत बैन ॥९५॥

हरषि न बोली लखि ललनु, निरखि अमिलु सँग साथु।
आँखिनु ही मैं हँसि, धर्‌यौ सीस हियैं धरि हाथु ॥९६॥

प्रीतम-दृग मिहचत प्रिया पानि-परस सुखु पाइ ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति जनाइ ।।९७।।

कर-मुंदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ ।
पीठि दिये निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ ।।९८।।

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, देन कहैं नटि जाइ ।।९९।।

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पुंज ।
जमुना-तीर तमाल तरु, मिलित मालती-कुंज ।।१००।।

औरैं ओप कनीनिकनु, गनी धनी सिरताज ।
मनी धनी के नेह की, बनी छनी पट लाज ।।१०१।।

बाल, कहा लाली भई लोइन-कोइनु माँह ।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छाँह ।।१०२।।

ललन, सलोने अरु रहे अति सनेह सौं पागि ।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि ।।१०३।।

लग्यो सुमनु ह्वै है सफलु, आतप-रोसु निवारि ।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ।।१०४।।

हा हा ! बदनु उघारि, दृग सफल करैं सबु कोइ ।
रोज सरोजनु कैं परैं, हँसी ससी की होइ ।।१०५।।

गहिलीं, गरबु न कीजियै समैं-सुहागहिं पाइ ।
जिय की जीवनि जेठ, सो माह न छाँह सुहाइ ।।१०६।।

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम ।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ।।१०७।।

तुहूँ कहति, हौं आपु हूँ समुझति सबै सयानु ।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु ।।१०८।।

पूस-मास सुनि सखिनु पै साईं चलत सवारु ।
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ रागु मलारु ।।१०९।।

ललन-चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ, झूठैं ही जमुहाइ ।।११०।।

दुसह विरह दारुन दसा, रहै न और उपाइ।
जात जात ज्यौं राखियतु प्यौ कौ नाउँ सुनाइ ॥१११॥

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
वहई रोग-निदानु वहै वैदु, ओषधि वहै ॥११२॥

बिरह-जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि कै बार।
अरी आउ भजि भीतरैं, बरसत आजु अँगार ॥११३॥

सीरैं जतननु सिसिर-रितु सहि बिरहिनि तन-तापु।
बसिबे कौं ग्रीषम दिननु पर्‌यौ परोसिनि पापु ॥११४॥

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जाति ॥११५॥

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि चलति लुवैं उहिं गाम।
बिनु बूझें, बिनु ही कहैं, जियति बिचारी बाम ॥११६॥

इत आवति चलि जाति उत चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ ॥११७॥

कर के मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ ॥११८॥

लाल, तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसैं नीर हूँ, झर हूँ मिटै न झार ॥११९॥

याकैं उर औरै कछू लगी बिरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कैं, पिय की बात बुझाइ ॥१२०॥

कहा भयौ, जौ बीछुरे, मो मनु तो मन साथ।
उड़ी जाउ कित हूँ तऊ गुड़ी उड़ाइक हाथ ॥१२१॥

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहै, आँखैं लागति नाँहि ॥१२२॥

कौन सुनै कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत है ए बदरा बदराह ॥१२३॥

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइयै आइ सुदरसनु देहु ॥१२४॥

नित संसौ हंसौ बचतु, मनौ सु इहिं अनुमानु।
बिरह-अगिनि-लपटनु सकतु झपटि न मीचु-सचानु ॥१२५॥

करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनें हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु ॥१२६॥

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सबु गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं ससिहि सीतकर-नाउँ ॥१२७॥

फौड़ा आँसू-बूँद, कसि साँकर बरुनी सजल।
कीने बदन निमूँद दृग-मलिंग डारे रहत ॥१२८॥

तच्यौ आँच अब बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैननु कैं मग जलु बहै हियौ पसीजि पसीजि ॥१२९॥

गोपिनु कैं अँसुवनु भरी सदा असोस, अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर कैं बार ॥१३०॥

दिसि दिसि कुसुमित देखियत उपबन-बिपिन-समाज।
मनहुँ बियोगिनु कौं कियौ सर-पंजर रितुराज ॥१३१॥

रह्यौ ऐंचि अंतु न लहै अवधि-दुसासनु बीरु।
आली, बाढ़तु बिरहु ज्यौं पंचाली कौ चीरु ॥१३२॥

बिरह-बिथा जल परस बिन बसियतु मो मन ताल।
कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुरजोधन लौं लाल ॥१३३॥

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात ॥१३४॥

बिरह-बिकल बिनु ही लिखी पाती दई पठाइ।
आँक-बिहूनीयौ सुचित सूनैं बाँचत जाइ ॥१३५॥

तर झरसी, ऊपर गरी कज्जल-जल छिरकाइ।
पिय पाती बिन हीं लिखी बाँची बिरह-बलाइ ॥१३६॥

मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन फूल।
बिन हीं पिय-आगम उमगि पलटन लगी दुकूल ॥१३७॥

बाम बाँह फरकति मिलैं जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तौहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥१३८॥

छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधवी-गंध ।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध ।।१३९।।

फिरि घर कौं नूतन पथिक चले चकित-चित भागि ।
फूल्यौ देखि पलासु बन, समुही समुझि दवागि ।।१४०।।

नाहिन ए पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास ।
मानहु बिरह बसंत कैं ग्रीषम लेत उसास ।।१४१।।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ ।
जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ।।१४२।।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह ।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह ।।१४३।।

पावस-घन-अँधियार महि रह्यौ भेदु नहिं आन ।
रात द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई चकवानु ।।१४४।।

पावक-झर तें मेह-झर दाहक दुसह बिसेखि ।
दहै देह वाकैं परस, याहि दृगनु हीं देखि ।।१४५।।

धुरवा होंहि न अलि, उठै धुवाँ धरनि चहुँ कोद ।
जारत आवत जगत कौं पावस प्रथम-पयोद ।।१४६।।

हठुन हठीली करि सकै यह पावस ऋतु पाइ ।
आन गाँठि घुटि जाइ त्यौं मान-गाँठि छुटि जाइ ।।१४७।।

बामा, भामा, कामिनी कहि बोलौ प्रानेस ।
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत बिदेस ।।१४८।।

घन घेरा छुटिगौ हरषि चली चहूँ दिसि राह ।
कियौ सुचैनौ आइ जगु सरद सूर नरनाह ।।१४९।।

ज्यौं ज्यौं बढ़ति विभावरी, त्यौं त्यौं बढ़त अनंत ।
ओक ओक सब लोक सुख कोक-सोक हेमंत ।।१५०।।

कियौ सबै जगु काम-बस, जीते जिते अजेइ ।
कुसुमसरहिं सर धनुष कर अगहनु गहन न देइ ।।१५१।।

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु ।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ खरौ पूस दिन-मानु ।।१५२।।

लगत सुभग सीतल किरन, निसि-सुख दिन अवगाहि ।
माह ससी-भ्रम सूर-त्यौं रहति चकोरी चाहि ॥१५३॥

रनित भृंग-घंटावली, झरत दान मधु नीरु ।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु ॥१५४॥

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ ॥१५५॥

लपटीं पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद ।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मंद ॥१५६॥

रुक्यौ साँकरैं कुंज-मग, करतु झाँकि झकुरातु ।
मंद मंद मारुत तुरँगु खूँदतु आवतु जातु ॥१५७॥

न्हाइ, पहिरि पटु डटि, कियौ बेंदी मिसि परनामु ।
दृग चलाइ घर कौं चली बिदा किए घनस्यामु ॥१५८॥

तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग ।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ॥१५९॥

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजारु ।
वहै सदा पसु नरनु कौ प्रेम-पयोधि पगारु ॥१६०॥

चटक न छाँड़तु घटत हूँ सज्जन-नेहु गँभीरु ।
फीकौ परै न, बरु फटै, रँग्यौ चोल-रंग चीरु ॥१६१॥

नीच हियैं हुलसे रहैं, गहे गेंद के पोत ।
ज्यौं ज्यौं माथैं मारियत, त्यौं त्यौं ऊँचे होत ॥१६२॥

कैसैं छोटे नरनु तैं सरत बड़नु के काम ।
मढ़्यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहें कैं चाम ॥१६३॥

कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु ।
नल-बल जलु ऊँचे चढ़ै, अंत नीच कौ नीचु ॥१६४॥

चलत पाइ निगुनी गुनी धन मनि मुकुता माल ।
भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल ॥१६५॥

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति दीपति दरपन-धाम ।
सब जगु जीतन कौं करयौ काय-व्यूह मनु काम ॥१६६॥

दूसह दुराज प्रजानु कौं क्यों न बढ़ै दुख-दंदु ।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रबि चंदु ।।१६७।।

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु ।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु ।।१६८।।

बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद-बड़ाई पाइ ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ ।।१६९।।

गुनी गुनी सबकैं कहैं, निगुनी गुनी न होतु ।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक तैं, अरक-समानु उदोतु ।।१७०।।

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध ।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगंध ।।१७१।।

जो चाहौ चटक न घटै मैलो होइ न मित्त ।
रज राजसु न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ।।१७२।।

अति अगाधु, अति औथरौ, नदी कूप सरु बाइ ।
सो ताकौ सागरु जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ।।१७३।।

कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ ।
वा खाए बौरात है, या पाए बौराइ ।।१७४।।

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सुबीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब मैं, अपत कँटीली डार ।।१७५।।

इहि आसा अटक्यौ रह्यौ अलि गुलाब के मूल ।।
ह्वैहैं बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वे फूल ।।१७६।।

को कहि सकै बड़ेनु सौं, नखै बड़ी हू भूल ।
दीने दई गुलाब कों, इन डारन ये फूल ।।१७७।।

वे न इहाँ नागर बड़े जिन आदर तो आब ।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयो गँवई गाँव गुलाब ।।१७८।।

कर लै सूँघि सराहि कै रहे सबै गहि मौन ।
गंधी गंध गुलाब को गँवई गाहक कौन ।।१७९।।

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहिं काल ।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल ।।१८०।।

स्वारथु, सुकृतु न श्रमु वृथा, देखि विहंग बिचारि ।
बाज पराएँ पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि ।।१८१।।

मरतु प्यास पिंजरा पर्यौ सुवा समै कैं फेर ।
आदरु दै दै बोलियतु बायसु बलि की बेर ।।१८२।।

नहिं पावसु ऋतुराज यह, तजि तरवर चित-भूल ।
अपतु भएँ बिनु पाइहै क्यौं नव दल फल फूल ।।१८३।।

सीतलता रु सुगंध की, महिमा घटी न मूर ।
पीनसवारैं जौ तज्यौ, सोरा जानि कपूर ।।१८४।।

चले जाहु ह्याँ को करत हाथिनु को व्यापार ।
नहिं जानत इहिं पुर बसैं धोबी, ओड़ कुम्हार ।।१८५।।

जम-करि मुँह तरहरि पर्यौ, इहिं धर हरि चित लाउ ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ।।१८६।।

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यो नाँहि ।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहि ।।१८७।।

जप माला छापा तिलक सरै न एकौ कामु ।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु ।।१८८।।

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सो ।
एकै रुपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ।।१८९।।

मनमोहन सौं मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि ।
कुंजबिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ।।१९०।।

तौ लगि या मन-सदन मैं हरि आवैं किहिं बाट ।
विकट जटे जौं लगु निपट खुलैं न कपट-कपाट ।।१९१।।

भजन कह्यौ तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार ।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार ।।१९२।।

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल ।।१९३।।

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि ।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि ।।१९४।।

बंधु भए का दीन के, को तार्‌यौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ ॥१९५॥

थोरें ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए आज कालिह के दानि ॥१९६॥

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाधें ही तोषु, तौ बाँधौ अपनैं गुननु ॥१९७॥

ज्यौं ह्वैहौं त्यौं होउँगो हौं हरि अपनी चाल।
हठु न करौ अति कठिनु है मो तारिबौ गुपाल ॥१९८॥

करौ कुबतु जगु, कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित, बसत त्रिभंगी लाल ॥१९९॥

मोंहि तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपनैं अपनैं बिरद की दुहूँ निबाहत लाज ॥२००॥

हुकुम पाइ जयसाहि कौ, हरि-राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ॥२०१॥

परिशिष्ट

छोड़कर राधा और कृष्ण के शरीर की कान्ति से प्रेम कर, जिससे ब्रज के क्रीड़ा-निकुंज के मार्गों पर तीर्थराज प्रयाग ही (प्रकट) हो जाता है।

विशेष—तीर्थराज प्रयाग पर गंगा, यमुना तथा सरस्वती का संगम होता है इनका जल क्रमशः श्वेताभ, श्यामल तथा लालिमायुक्त माना जाता है। प्रस्तुत दोहे में राधा का गौर वर्ण गंगा, कृष्ण की श्यामल छवि यमुना तथा अनुराग का लाल वर्ण सरस्वती के रूप में माना गया है। इस प्रकार राधा कृष्ण के प्रति प्रेम करने से त्रिवेणी-सेवन के पुण्य की प्राप्ति हो सकती है।

अलंकार—तद्गुण।

[४]

शब्दार्थ—वृषभानुजा=(१) राजा वृष की पुत्री, (२) वृष राशि के प्रचंड सूर्य में जन्म लेने वाली (राधा), (३) गाय। हलधर के वीर (१) बलराम के भाई (२) शेषनाग के अवतार के भाई (३) बैल।

भावार्थ—राधा कृष्ण दोनों मान किये बैठे हैं। अतः कोई सखी उन्हें हँसाने के उद्देश्य से व्यंग्यात्मक स्वर में श्लिष्ट वाक्य द्वारा कहती है—राधा और कृष्ण की यह जोड़ी चिरंजीव हो। इन दोनों में गम्भीर स्नेह भी क्यों न जुड़ा रहे। इन दोनों में से कोई भी कम नहीं है अर्थात् दोनों एक दूसरे से बढ़-चढ़कर हैं—

(१) इनमें से एक यदि राजा वृषभानु की पुत्री है तो दूसरे बलराम (जो एक प्रभावशाली पुरुष है) के भाई हैं।

(२) यदि राधा वृष राशि के सूर्य में जन्म लेने वाली है (वृष राशि के सूर्य में जन्म लेने वाले उग्र स्वभाव के होते हैं) तो कृष्ण शेषनाग के अवतार बलराम (उग्रस्वभाव) के भाई हैं।

(३) यदि राधा गाय है तो कृष्ण बैल हैं।

विशेष—श्रृंगार अथवा हास्य रस का अच्छा पुट है।

अलंकार—श्लेष तथा वक्रोक्ति।

[५]

शब्दार्थ—बैस=वयस, अवस्था। बरन=वर्ण, जाति। जुगल किसोर= राधा कृष्ण। जुगल=युगल, दो।

भावार्थ—जो नित्यप्रति एक साथ रहते हैं। अवस्था, जाति और मन से एक हैं, ऐसे युगल किशोर (राधा कृष्ण की युगल मूर्ति) को देखने के लिए आँखों के अनेक जोड़े चाहिए। (इनके अनोखे सौन्दर्य को देखने के लिए दो नेत्र ही पर्याप्त नहीं हैं।)

अलंकार—सम।

[६]

शब्दार्थ—पावस=वर्षा। नन्दित करी=आनन्दित की।

भावार्थ—(हे सखी) बिना वर्षा के ही अचानक वन में मोर नाच उठे। मैं अनुमान करती हूँ कि इस दिशा को कृष्ण ने आनन्दित किया है।

अलंकार—भ्रम तथा अनुमान।

[७]

शब्दार्थ—मकराकृति=मछली की आकृति के। समर=स्मर कामदेव। निसान=ध्वजा।

भावार्थ—श्री कृष्ण के कानों में मछली के आकार वाले कुंडल इस प्रकार शोभित हैं मानो कामदेव उनके हृदय रूपी देश में प्रविष्ट हो गया है तथा ड्योढ़ी पर (मकराकृति कुंडल के रूप में) उसकी ध्वजा फहरा रही है।

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा।

[८]

शब्दार्थ—पीतपट=पीताम्बर (पीला वस्त्र)। सलोने=सुन्दर। आतप=धूप।

भावार्थ—श्रीकृष्ण सुन्दर शरीर पर पीताम्बर ओढ़े हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं मानो नीलमणि के पर्वत पर प्रातः काल के समय धूप पड़ रही हो।

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा।

[९]

शब्दार्थ—अधर=होंठ। डीठि=दृष्टि (नेत्र)। पट=वस्त्र (पीताम्बर)।

भावार्थ—श्री कृष्ण के, होंठ पर बाँसुरी धारण करते ही उस पर होंठ, दृष्टि तथा पीताम्बर की झलक पड़ती है। तब हरे बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष के रंग की हो जाती है।

अलंकार—उपमा, तद्‌गुण।

[१०]

शब्दार्थ—सिसुता=बचपन। ताफता=धूपछाँह नामक रेशमी कपड़ा जिसमें ताना एक रंग का तथा बाना दूसरे रंग का होता है फलस्वरूप उसमें दोनों रंगों की झलक दिखायी पड़ती है।

भावार्थ—(नायिका की वयः सन्धि का वर्णन) अभी बचपन (लड़कपन) की झलक नहीं छूटी है और यौवन का रंग शरीर में झलक उठा है। इन दोनों ने मिलकर उसके शरीर में धूपछाँह कपड़े के रंग की चमक पैदा कर दी है।

अलंकार—लुप्तोपमा।

[११]

शब्दार्थ—चहले परे=दलदल में फँसे। बै=वय (तरुणावस्था)। नै=नदी।

भावार्थ—(यौवनावस्था के प्रवाह में) कोई भीग जाता है, कोई दलदल में फँस जाते हैं, कोई डूब जाते हैं तथा हजारों बह जाते हैं। चढ़ती हुई तरुणावस्था तथा नदी संसार में कितने अवगुण नहीं करती।

अलंकार—दीपक।

[१२]

शब्दार्थ—इजाफा=वृद्धि (उन्नति)।

भावार्थ—यौवन रूपी चतुर राजा ने अपने अंग (पक्ष) के समझ कर स्तन, मन, नयन तथा नितंबों में पर्याप्त वृद्धि कर दी है। (यौवन के आगमन पर इन अंगों में वृद्धि स्वाभाविक है)।

अलंकार—रूपक।

[१३]

शब्दार्थ—अहेरी=शिकारी। मार=कामदेव। काननचारी=(१) कानों तक फैले हुए अर्थात् दीर्घ। (२) वन में विचरण करने वाले।

भावार्थ—हे सखी ! कामदेव रूपी चतुर शिकारी ने तेरे काननचारी (कानों तक फैले हुए दीर्घ नयनों, वन में विचरण करने वाले) नयन-रूपी मृगों को चतुर नरों का भली-भाँति शिकार करना सिखाया है।

अलंकार—रूपक। 'काननचारी' में श्लेष।

[१४]

शब्दार्थ—सायँक=सायं काल। मायक=मायावी। झखौ=मछली भी। जलजात=कमल।

भावार्थ—(उस नायिका के) मायावी नेत्र सायंकाल के समान है जो अपने गात्र को तीन प्रकार के रंगों से रंगे हुए हैं (नेत्रों में श्वेत, श्याम और लाल रंग हैं, संध्या के समय आकाश में भी ये तीन रंग दिखायी पड़ते हैं)। इन्हें देखकर मछली दुखी होकर जल में छिप जाती है तथा कमल लज्जित हो जाता है। (संध्या काल में मछलियाँ जल के तल पर चली जाती है तथा संध्या में कमलों का संकुचित होना प्रसिद्ध है।)

अलंकार—उपमा और यमक।

[१५]

शब्दार्थ—जोग=(१) योग (२) संयोग। मैन=मदन, कामदेव। पिय=

(१) प्रियतम (२) परमात्मा। अद्वैतता=(१) अभिन्नता (२) सर्वकालीन संयोग। कानन सेवत=(१) वन में विचरण करने वाले (२) कानों तक विस्तृत।

भावार्थ—मानो कामदेव रूपी महामुनि ने योग की सभी युक्तियाँ सिखा दी हैं तभी तो (उस नायिका के) कानों तक विस्तृत नेत्र प्रियतम से अभिन्नता चाहते हैं, जिस प्रकार वन में विचरण करने वाला योगी परमपिता परमात्मा से एकीभाव चाहता है।

अलंकार—जोग, अद्वैतता और कानन में श्लेष। महामुनि मैन में रूपक। फलोत्प्रेक्षा।

[१६]

शब्दार्थ—झूठे=(१) उच्छिष्ट भोजन (२) मिथ्या। संग्रहे—(१) ग्रहण किये (२) प्रमाण माने।

भावार्थ—मुख से निकले हुए वचनों को मन ने झूठे (उच्छिट, मिथ्या) जानकर संग्रह योग्य नहीं समझा। मानो इसीलिए ब्रह्मा ने बातें करने के लिए नेत्र बनाये हैं।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

[१७]

शब्दार्थ—नरत=नाहीं करते हैं। खिनत=प्रफुल्लित होते हैं।

भावार्थ—(नायक-नायिका) कभी कुछ कहते हैं, कभी नाहीं करते हैं, कभी (परस्पर) रीझते हैं, कभी खीझते हैं, कभी प्रसन्न होते हैं, कभी लज्जित होते हैं। इस प्रकार (गुरुजनों से) भरे हुए घर से आँखों-आँखों में ही सब बात कर लेते हैं।

अलंकार—विभावना।

[१८]

शब्दार्थ—ति=वे। बैन=वचन। कुटिल-बंक=टेढ़ी।

भावार्थ—संगति का दोष सबको लगता है—ये जो वचन कहे गये है, वे सत्य हैं। (तभी तो) टेढ़ी भौंहों के समीप रहने से नेत्र भी कुटिल गति वाले हो गये हैं।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

[१९]

शब्दार्थ—लोयन=लोचन, नेत्र। लोयन सिन्धु=लावण्य-सिन्धु, सुन्दरता का सागर।

भावार्थ—हजार साहस धारण करने पर भी तथा हजार यत्न करने पर

भी ये नेत्र लावण्य-सिन्धु (शरीर रूपी सुन्दरता के सागर) को तैर कर पार नहीं कर पाते।

अलंकार—यमक, रूपक तथा विशेषोक्ति।

[२०]

शब्दार्थ—रहँट-घरी = रहँट की घरिया।

भावार्थ—मेरे नेत्र जब से कृष्ण के छवि रूपी जल में पड़े हैं तब से क्षण भर को भी उससे नहीं बिछुड़ते। वे कभी अश्रुजल से भर जाते हैं, कभी खाली हो जाते हैं, कभी डूब जाते हैं, कभी उसमें तैरते हैं। वे रहँट की घरिया के समान हो गये हैं।

अलंकार—उपमा।

[२१]

शब्दार्थ—बलाइ = विपत्ति।

भावार्थ—(हे सखी !) मेरे नेत्रों ने प्रेम नहीं किया बल्कि एक बड़ी बला उत्पन्न कर ली। ये हर समय (अश्रु) जल से भरे रहते हैं, फिर भी इनकी प्यास (दर्शन की तृष्णा) नहीं बुझती।

अलंकार—विशेषोक्ति।

[२२]

भावार्थ—मैंने इन्हें कितना ही समझा कर कहा किन्तु ये नेत्र तनिक भी नहीं मानते। तन और मन हारने पर भी ये हँसते ही हैं। इन पर अपना क्या वश है ?

अलंकार—विशेषोक्ति।

[२३]

भावार्थ—(हे सखी !) छवि-रूपी मदिरा से तृप्त मेरे ये नेत्र बहक कर हृदय की सब बात कर देते हैं। ये ठौर कुठौर नहीं देखते। इनकी दशा क्षण भर में कुछ और क्षण भर में कुछ और हो जाती है।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

[२४]

भावार्थ—(हे सखी !) मेरे ये नेत्र लज्जा रूपी लगाम (प्रतिबन्ध) को नहीं मानते, ये मेरे वश में नहीं हैं। ये तो मुँहजोर घोड़े की भाँति लगाम खींचने पर भी (प्रिय की ओर) चले जाते हैं।

अलंकार—रूपक, विभावना तथा उपमा।

[२५]

भावार्थ—(हे सखी !) मेरी इन दुखी आँखों के लिए सुख बनाया ही नहीं

गया। क्योंकि जब प्रिय सामने आते हैं तो लज्जावश देखते नहीं बनता और (जब वे ओट में हो जाते हैं तो) बिना देखे व्याकुल होते हैं।

अलंकार—काव्यलिंग तथा विशेषोक्ति।

[२६]

शब्दार्थ—लौने=लावण्यमय, सुन्दर। लोइननु=लोचनों, नेत्रों। तूक्यौ=तुष्ट हुआ है।

भावार्थ—तेरे इन सुन्दर नेत्रों के कोयों को देखकर यह लक्षित नहीं होता कि किस वेचारे पर तू कृपा करेगी और किस पर कामदेव प्रसन्न हुआ है।

अलंकार—पर्यायोक्ति।

[२७]

भावार्थ—(हे सखी!) मेरे नेत्र यद्यपि (प्रिय के) नख-शिख सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं तथापि ये उनकी मुस्कान को चाहते हैं। ये मेरे लालची नेत्र ललचाने का स्वभाव नहीं छोड़ते।

अलंकार—विशेषोक्ति।

[२८]

शब्दार्थ—कमनैती=धनुर्विद्या, तीरंदाजी। जिहि=ज्या, प्रत्यंचा। वेझै=वेधन।

भावार्थ—हे नारी! तुमने यह तीरंदाजी कहाँ से सीखी है कि बिना प्रत्यंचा की भौंह रूपी कमान पर तिरछे चितवन रूपी वाण को चढ़ाकर चंचल चित्त को वेधने में भी कभी नहीं चूकती।

विशेष—धनुष बिना प्रत्यंचा का है, लक्ष्य चंचल है और वाण टेढ़ा। फिर भी निशाना अचूक है।

अलंकार—विभावना।

[२९]

शब्दार्थ—अनियारे=अनीवाले, नुकीले।

भावार्थ—नुकीले और बड़े-बड़े नेत्रों में कितनी तरुणियाँ एक-सी नहीं हैं किन्तु वह चितवन कुछ और ही होती है जिसके वशीभूत चतुर जन भी हो जाते हैं।

तात्पर्य यह कि वाह्य सौन्दर्य में तो संसार की अनेक वस्तुएँ समान प्रतीत होती हैं किन्तु आकर्षण का केन्द्र आन्तरिक सौन्दर्य ही होता है।

[३०]

शब्दार्थ—झीन=बारीक, हल्का। जुग=दो। मीन=मछली।

भावार्थ—बारीक घूंघट पट के भीतर से नायिका के चंचल नेत्र चमक रहे हैं। मानो गंगा के निर्मल जल में दो मछलियाँ उछल रही हों।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[३१]

शब्दार्थ—वेसरि=नाक में पहनने का एक आभूषण जिसमें मोती गुंथे होते हैं। चूनौ=पान में लगाया जाने वाला चूना।

भावार्थ—वेसर में गुँथे हुए मोती की सफेद आभा तेरे ओठ पर आ पड़ी है (जिसे भ्रांतिवश तू चूना समझ रही है) हे चतुर (व्यंग्यार्थ भोली) नारी यह चूना नहीं है। तू इसे कपड़े से क्योंकर पोंछ सकती है।

अलंकार—भ्रांत्यापन्हुति।

[३२]

शब्दार्थ—निधरक=नि:शंक।

भावार्थ—वेसर के मोती को नायिका के अधर पर विलास करते देखकर नायक का कथन—

हे वेसर के मोती, तू धन्य है, (तेरे) कुल (तथा) जाति को कौन पूछता है। तू इस नारी के ओठ का रस (जो मेरे जैसे कुलीन व्यक्ति के लिए दुर्लभ है) नि:शंक होकर दिन रात पिया कर।

अलंकार—व्याजस्तुति।

[३३]

शब्दार्थ—लसत=शोभा पाता है। तरचौना=कर्णफूल। बिहान=प्रात:काल।

भावार्थ—श्वेत साड़ी से ढका हुआ चंचल (कंपन के कारण हिलता हुआ) कर्णफूल इस प्रकार सुशोभित हो रहा है मानो प्रात:काल के समय गंगा के जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ा हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[३४]

शब्दार्थ—लोने=सुन्दर। दीठि=कुदृष्टि, नजर। ईठि=इष्ट, सखी। दिठौना=कुदृष्टि से बचाने के लिए मुख पर लगाया जाने वाला काजल का टीका।

भावार्थ—दिठौना लगाने से शोभा में वृद्धि होने के कारण नजर लगने की आशंका और बढ़ गयी—

सखी ने यों कह कर कि सुन्दर मुख पर किसी की नजर न लग जाये

डिठौना लगा दिया। किन्तु दिठौना लगाने से (उसके मुख की शोभा और बढ़ गयी अतः दृष्टि) दुगुनी होकर लगने लगी।

अलंकार—विषम

[३५]

शब्दार्थ—पत्रा=तिथि पत्र, पंचांग। पून्यौं=पूर्णिमा। उजास=प्रकाश।

भावार्थ—सखी नायिका के मुख की शोभा का वर्णन नायक से करती है—

उस (नायिका) के घर के चारों ओर पत्रे से ही तिथि जानी जाती है क्योंकि उसके मुख की चमक एवं प्रकाश से वहाँ नित्य पूर्णिमा ही रहती है। (अर्थात् नायिका का मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान कान्तिमान है)।

अलंकार—परिसंख्या तथा काव्यलिंग।

[३६]

शब्दार्थ—मिति=प्रमाण, सीमा। छपा=क्षपा, रात्रि।

भावार्थ—नायिका के शरीर में यौवनागमन का वर्णन—

ज्यों-ज्यों यौवन रूपी ज्येष्ठ मास के कुच रूपी दिन की सीमा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कटि रूपी रात्रि क्षण-क्षण में नित्य प्रति क्षीण पड़ती जाती है।

विशेष—ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़े और रात्रि छोटी होती है। इसी प्रकार यौवन के आगमन पर स्तनों की दीनता के साथ-साथ कटि में क्षीणता आती जाती है। ज्येष्ठ मास की उष्णता से कामोद्दीपकता भी व्यंजित है।

अलंकार—रूपक।

[३७]

शब्दार्थ—महावर=लाख का रंग जिससे स्त्रियाँ पाँव रँगती हैं।

भावार्थ—नायिका की एड़ी की ललाई की प्रशंसा करती हुई कोई सखी कहती है—पाँव में महावर देने के लिए नाइन आकर बैठी किन्तु एड़ी को (लालिमा के कारण) महावर की गोली समझ कर उसी को बार-बार मीड़ती जाती है।

अलंकार—भ्रांतिमान।

[३८]

शब्दार्थ—कंचुकी=अँगिया। अंकन=अक्षरों।

भावार्थ—अंकुरित यौवना नायिका के कुचों का वर्णन—(इत्र आदि की सुगन्ध से) चुपड़ी हुई अँगिया एवं सफेद साड़ी में कुच छिपते नहीं हैं। वे कवि के अक्षरों के अर्थ की भाँति प्रकट दिखायी पड़ते हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[३९]

शब्दार्थ—मोर्चे=जंग, आईने पर जमा हुआ मैल।

भावार्थ—स्वर्णाभूषणों की व्यर्थता सिद्ध करती हुई कोई सखी कहती है—'तू स्वर्ण के आभूषण मत पहन' यह बात इसलिए कहने में आती है कि वे तेरे शरीर पर दर्पण पर लगे हुए मोरचे के समान दिखायी पड़ते हैं। (सोने के आभूषण शरीर के सहज सौन्दर्य को विकृत कर देते हैं।)

अलंकार—पूर्णोपमा।

[४०]

शब्दार्थ—पायंदाज=एक प्रकार का वस्त्र अथवा टाट, जो पैर पोंछने के काम आता है।

भावार्थ—मानो ब्रह्मा ने तन की अच्छी छवि को स्वच्छ रखने के निमित्त आँखों के पैरों को पोंछने के लिए पायंदाज के रूप में आभूषण बनाए हैं। (दोहे में प्रकारान्तर से नायिका के शरीर की छवि का वर्णन किया गया है।)

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[४१]

शब्दार्थ—सहज=सामान्य (बिना वेल बूटे की)। पँचतोरिया=पाँच तोले वजन की (बारीक रेशमी साड़ी)। जलचादर=ऊँचाई से गिरने वाला जल का झीना तथा विस्तृत प्रवाह।

भावार्थ—सखी नायक से नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई कहती है—सामान्य सफेद पाँच तोले की साड़ी पहनने से उसकी शोभा में और अधिक वृद्धि हो जाती है। उस समय उसके शरीर की आभा जलचादर के रखे हुए दीपकों की भाँति—जगमगाती है।

राजाओं के उद्यानों में किसी ऊँचे स्थान से जल का झीना प्रवाह गिराया जाता था, जिसे जलचादर कहते थे। इन जलचादरों के पीछे आले बनाकर उनमें दीपकों की पंक्ति जला दी जाती थी। बिहारी ने उन्हीं को 'जलचादर के दीप' कहा है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[४२]

शब्दार्थ—तर्‌यौना=(१) कर्णफूल (२) तरा नहीं। श्रुति=(१) कान (२) वेद। इक रंग=(१) एक रीति पर (२) अविच्छिन्न। नाक=(१) नासिका (२) स्वर्ग। वेसरि=(१) नाक का एक आभूषण जिसमें मोती गुँथे होते हैं (२) खच्चरी, अधम प्राणी। मुकुतन=(१) मोती (२) मुक्त पुरुष।

भावार्थ—शिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण इस दोहे के दो अर्थ हैं—

(१) **तर्यौना वर्णन**—आज तक तर्यौना (कर्णफूल) एक रीति से कानों का सेवन करते हुए तर्यौना ही रहा (अर्थात् उसे मुख के पीछे का गौण स्थान सिद्ध हुआ) जबकि बेंसरि (नाक के आभूषण) ने मोतियों के साथ रहकर नासिका का (अग्रस्थान) वास प्राप्त किया।

(२) **सत्संग की प्रशंसा**—अविच्छिन्न रूप से श्रुति वेद का सेवन करता हुआ आज भी (कोई व्यक्ति) तरा नहीं जबकि अधम प्राणी ने मुक्त पुरुषों के साथ रहकर स्वर्ग का निवास प्राप्त कर लिया।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट मुद्रालंकार।

[४३]

शब्दार्थ—सुरंग=सुन्दर रंग का (लाल)। केसर आड़=केसर का आड़ा तिलक। गुरु=वृहस्पति। नारी=(१) स्त्री (२) ज्योतिष की राशि। रस=(१) श्रृंगार रस (२) जल।

भावार्थ—सुन्दरी का मुख चन्द्रमा है, माथे पर का लाल बिन्दु ही मंगल है तथा केसर का आड़ा तिलक वृहस्पति है। एक स्त्री रूपी नाड़ी में साथ-साथ होने पर इन्होंने संसार के नेत्रों को रसमय (श्रृंगार रस से युक्त तथा जलमय) कर दिया है।

विशेष—ज्योतिष के अनुसार जब मंगल, चन्द्रमा और वृहस्पति एक नाड़ी में आ जाते हैं तो वर्षा का योग होता है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक।

[४४]

शब्दार्थ—साजियतु=सजाते हैं।

भावार्थ—नायिका की स्वाभाविक शोभा का वर्णन शरीर के आभूषण, आँखों का अंजन तथा पैरों में महावर का रंग शोभा को नहीं सजाते। ये तो कहने मात्र को अंगों में (धारण किये) हैं।

[४५]

शब्दार्थ—बौलसिरी=बकुलश्री (मौलसिरी)।

भावार्थ—नायक ने सखी द्वारा नायिका के लिए मौलसिरी की माला भेजी है। वह माला पहनकर नायिका पुलकित हो जाती है। सखी नायक के प्रति उसी का वर्णन करती हुई कहती है—

हे लाल ! गोरे गले में मौलसिरी की माला पहनते ही उसके शरीर पर ऐसी कान्ति दौड़ गयी मानो (तुम्हारे) स्पर्श से ही वह पुलकित हो गयी हो।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

[४६]

शब्दार्थ—बढ़ाएँ हूँ=बुझाने पर भी।

भावार्थ—नायिका के उद्दीप्त रूप की प्रशंसा—उसके अंग-अंग में आभूषणों के नग जगमगाते हैं क्योंकि उसका शरीर दीपशिखा के समान है। अतः दीपक बुझा देने पर भी घर में बड़ा उजाला रहता है।

अलंकार—उपमा (दीपसिखा-सी देह)।

[४७]

शब्दार्थ—करकस=कर्कश (कठोर)। पिछाने=पहचाने।

भावार्थ—सोने जैसे (स्वर्णिम आभा वाले) शरीर पर सोने के आभूषण दिखायी नहीं पड़ते क्योंकि वे समानद्युति वाले हैं। स्पर्श करने पर जब वे हाथ में कठोर लगते हैं तब पहचाने जाते हैं कि ये आभूषण हैं।

अलंकार--उन्मीलित।

[४८]

भावार्थ—नायिका के सब अंग दर्पण के समान हैं अतः अलग-अलग अंग पर प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण उसके (एक-एक) आभूषण दुहरे-तिहरे तथा चौहरे जान पड़ते हैं।

अलंकार—उपमा (दरपन सैं गात)।

[४९]

भावार्थ—हे बाला, तेरे कंचन जैसे शरीर पर चम्पे की माला पहनने पर (शरीर के रंग में इस प्रकार मिल जाती है कि) जरा भी लक्षित नहीं होती किन्तु कुँभलाने पर वह हृदय पर जान पड़ती है (दिखायी पड़ती है)।

यह भाव गोस्वामी तुलसीदास की 'बरवै रामायण' में इस प्रकार आया है—चंपक हरवा अंग मिल अधिक सुहाय।

जान परै सिय हियरे जब कुँभिलाय॥

अलंकार—उन्मीलित।

[५०]

शब्दार्थ--धर=धरा (पृथ्वी)।

भावार्थ—नायिका की सुकुमारिता का वर्णन—तेरा यह सुकुमार शरीर

आभूषणों के भार को कैसे संभालेगा। तेरे पैर तो शोभा के भार से ही पृथ्वी पर सीधे नही पड़ते (डगमगा जाते हैं)।

मुंशी देवी प्रसाद प्रीतम ने 'गुलदस्तये बिहारी' में इस दोहे का अनुवाद इस प्रकार किया है—

सँभाले बारे जेवर क्या तेरा नाज़ुक बदन प्यारी।
कज़ी रफ्तार की कहती है बारे हुस्न है भारी॥

[५१]

शब्दार्थ—झझकत=झिझकना। झँवा=मिट्टी से बनी एक वस्तु (जली हुई ईंट), जो विशेष रूप से पैरों के तलवे साफ करने के काम आती है।

भावार्थ—नायिका के पैरों की कोमलता का वर्णन—(उसके पैर धोते समय नाइन) छाले पड़ने के डर से अपना हाथ उसके पैरों से नहीं छुवा सकती। (हाथ से मल कर पैर धोने की तो बात क्या) गुलाब के झाँवे से भी पैर रगड़ते समय उसके हृदय में झिझक रहती है (कि कहीं गुलाब के झाँवे से उसके कोमल पैर न छिल जायें)।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

[५२]

शब्दार्थ—थुरहथी=छोटे हाथों वाली। रहचटै=लालच, चाह में।

भावार्थ—किसी कृपण की कृपणता का उपहास करते हुए कवि कहता है—(नयी आयी हुई (वहू को छोटे हाथों वाली जानकर ससुर ने (भिखारियों) को कण (अन्न) देने का काम सौंपा (जिससे कम अन्न व्यय हो) किन्तु उसके रूप लालच से सारा संसार ही (उसके द्वार पर आकर) भिक्षा माँगने लगा।

अलंकार—विषादन।

[५३]

शब्दार्थ—सगुन=गुणयुक्त। सलोने=(१) लावण्ययुक्त (सुन्दर) (२) लवणयुक्त (नमकीन)। चख=चक्षु (नेत्र)।

भावार्थ—नायक अथवा नायिका के अद्वितीय रूप का वर्णन—ज्यों-ज्यों मेरे नेत्र उसके रूप को अघाकर (तृप्त होकर) पीते हैं त्यों-त्यों प्यासे ही रहते हैं क्यों कि उसका रूप परम गुण युक्त एवं सलोना (सुन्दर एवं लवणयुक्त) है अतः नेत्रों की प्यास (दर्शन की साध) नहीं बुझती (नेत्र तृप्त नहीं होते)।

विशेष—लवणयुक्त (नमकीन खारे) जल से प्यास नहीं बुझती है।

अलंकार—सलोने में श्लेष, विशेषोक्ति।

[५४]

शब्दार्थ—सबी=चित्र। गरुर=अभिमान। कूर=मूढ़।

भावार्थ—नायिका के प्रतिक्षण बढ़ने वाले अद्वितीय सौन्दर्य का वर्णन—उसका चित्र बनाने के लिए अभिमान से भरकर (आए हुए) संसार के कितने चित्रकार मूढ़ नहीं बने (अर्थात् अनेक चित्रकार उसका चित्र बनाने में असमर्थ होकर मूढ़ सिद्ध हुए)।

विशेष—नायिका का सौन्दर्य गत्यात्मक है, जिसमें निरन्तर वृद्धि होती रहती है अत: यथार्थ छवि का अंकन सम्भव नहीं है। महाकवि माघ ने रमणीयता का लक्षण बताया है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयता'।

अलंकार—वक्रोक्ति, विशेषोक्ति तथा अतिशयोक्ति।

[५५]

शब्दार्थ—सनि=शनि, शनिश्चर ग्रह। झख-लगन=मीन-राशि। सुदेसु=सुन्दर देश।

भावार्थ—सखी नायिका से कहती है—तेरे नेत्र रूपी मीन लग्न में कज्जल रूपी शनि स्थित है और शुभ मुहूर्त में (नायक के प्रति तेरे हृदय में) स्नेह उत्पन्न हुआ है तो अब देह रूपी सुन्दर देश को प्राप्त करके राजा की भाँति उसे क्यों नहीं भोगती।

विशेष—ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार शनि यदि मीन लग्न में हो तो मनुष्य राजा बनता है।

अलंकार—रूपक।

[५६]

शब्दार्थ—कोटि=कोटि (करोड़ों)। काढ़ै=निकाले। लौनु=लवण, नमक।

भावार्थ—प्रियतम के प्रेम में निमग्न नायिका अपनी सखी से कहती है—मेरा मन प्रिय के रूप में पानी में नमक की भाँति मिल गया है। अब कह, करोड़ों यत्न करने पर भी—उसे कौन निकाल सकता है। (जिस प्रकार पानी में घुले हुए नमक को निकालना कठिन है उसी प्रकार नायिका के मन को प्रिय के रूप-लावण्य से विलग नहीं किया जा सकता)।

अलंकार—दृष्टान्त।

[५७]

शब्दार्थ—अनुरागी=प्रेमी, रक्तिम वर्ण। स्याम रंग=(१) श्रीकृष्ण, (२) काला रंग। उज्जलु=(१) निर्मल (२) सफेद और स्वच्छ।

भावार्थ—इस प्रेमी हृदय की गति (रहस्य) को कोई नहीं समझ सकता। ज्यों-ज्यों यह कृष्ण के प्रेम रंग में डूबता है त्यों-त्यों निर्मल होता जाता है।

(विशेषता यह है कि हृदय डूबता तो है श्याम (काले) रंग में और हो जाता है उज्ज्वल)।

विशेष—इस दोहे का अर्थ शृंगार एवं शान्त दोनों रसों में लग सकता है।

अलंकार—विषम।

[५८]

शब्दार्थ—जुगुति=युक्ति, उपाय । सजन=प्रियतम । धरक=धड़क, भय।

भावार्थ—अनन्य अनुरागमयी नायिका का कथन—यदि प्रियतम की प्राप्ति का उपाय (साधन) नहीं है तो ऐसी मुक्ति के मुख में मैं धूल डालती हूँ। (इसके विपरीत) यदि प्रियतम का साथ प्राप्त हो तो नरक में जाने से भी भय नहीं है।

विशेष—इस प्रसंग में अहमद के नाम से प्रसिद्ध निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है—

> कहा करौं बैकुंठ लै कलप वृक्ष की छाँह।
> अहमद ढाँख सराहिए जो प्रियतम गलबाँह ॥

[५९]

शब्दार्थ—लागि=लगकर, निकट होकर।

भावार्थ—विरह-विदग्ध नायिका सखी से कहती है—कौन जाने क्या होने वाला है। ब्रज में विलक्षण अग्नि उत्पन्न हुई है, जो आँखों से छू जाने पर मन में लग जाती है। अतः (मैं तुझे समझाती हूँ कि) तू उस रास्ते के निकट होकर मत चलना।

अलंकार—असंगति।

[६०]

शब्दार्थ—कुटुम=कुटुम्ब। गाँठि=ईर्ष्या की गाँठ।

भावार्थ—(जब दो प्रेमीजनों के) नेत्र उलझते हैं, तो कुटुम्ब टूटते हैं, चतुर चित्तों में प्रीति जुड़ती है। परिणामस्वरूप दुर्जनों के हृदय में ईर्ष्या की गाँठ पड़ती है। भगवान ने प्रेम की यह कैसी नयी (विलक्षण) रीति बनायी है। (विलक्षणता यही है कि उलझते तो नेत्र हैं, टूटते कुटुम्ब हैं, जुड़ते चित्त हैं और गाँठ पड़ती है दुर्जनों के हृदय में। सामान्यतया लोक-व्यवहार में जो वस्तु उलझती है वही टूटती है, जो वस्तु टूटती है वही जुड़ती है, जो जुड़ती है उसी में गाँठ पड़ती है।)

विशेष—इस दोहे में अद्भुत और शृंगार दोनों रसों की छटा व्याप्त है।

अलंकार—असंगति।

[६१]

शब्दार्थ—काल-विपाकु=नियत काल का पूरा होना। उछकै न=उचटता नहीं, उतरता नहीं। विषमु=विकट। छबि-छाकु=सौन्दर्य का नशा।

भावार्थ—सौन्दर्य का नशा (अन्य सभी नशों से) विकट होता है। क्षण-मात्र के लिए छक लेने (पान कर लेने) पर फिर यह उतरता नहीं। (अन्य नशे तो डर से उतर जाते हैं, नींद आ जाने पर शान्त हो जाते हैं तथा नियत काल व्यतीत होने पर समाप्त हो जाते हैं किन्तु यह) डर से नहीं टलता, इसमें नींद भी नहीं आती और नियत काल व्यतीत होने पर भी यह समाप्त नहीं होता है।

अलंकार— व्यतिरेक।

[६२]

शब्दार्थ—रूप=(१) सौन्दर्य (२) चाँदी, रुपया। साँटि=साँट-गाँठ। बीच ही=बिना अनुमति के ही।

भावार्थ—हे सखी ! ये नेत्र बड़ी वला हैं। ये कृष्ण के रूप के लालच में पड़ कर इन्होंने साँट-गाँठ करके मेरी बिना अनुमति के ही मुझे वेच डाला (जैसे कोई दलाल रुपये के लालच में साँट-गाँठ करके स्वामी की बिना अनुमति के ही सौदा वेच डाले)

अलंकार—रूपक।

[६३]

शब्दार्थ—जक=कल चैन। चकरी=चकई, लकड़ी का एक खिलौना जिसे धागे में बाँध कर घुमाया जाता है।

भावार्थ—पूर्वानुरागिनी नायिका की विह्वलता का वर्णन—(नायक के दर्शनों की उत्कंठावश वह) इधर से उधर, उधर से इधर पुनः-पुनः आती-जाती है। क्षण भर के लिए भी कहीं नहीं ठहरती। उसे कल नहीं पड़ती। उसकी दशा चकई के समान हो गयी है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

[६४]

शब्दार्थ—चकी=चकित। जकी=जकड़ी हुई, स्तम्भित। नीठि=कठिनाई से।

भावार्थ—पूर्वानुरागिनी नायिका की जड़ता दशा का वर्णन—(हमारी यह सखी) चकित-सी, स्तम्भित-सी हो रही है। पूछने पर बड़ी कठिनाई से बोलती है। क्या कहीं इसकी दृष्टि लग गयी है (यह किसी के प्रति अनुरुक्त हो गयी है) अथवा इसे किसी की दृष्टि लग गयी है (नजर लग गयी है)।

अलंकार—सन्देह ।

[६५]

शब्दार्थ—गह्री=ग्रस्त, निमग्न । रिझवारि=रीझने वाली ।

भावार्थ—प्रियतम के ध्यान में निमग्न वह नारि वही (प्रियतम के रूपवती) हो गयी है । अतः स्वयं ही की आरसी (दर्पण) में देखकर 'रिझवारी' होकर स्वयं पर ही रीझ उठती है ।

विद्यापति राधा की इसी प्रकार की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दर भैलि मधाई ।

[६६]

शब्दार्थ—गुरु=भारी । गुरुजन=घर के छोटे लोग (सास, जेठानी आदि) ।

भावार्थ—नायक में अनुरक्त नायिका का वर्णन—

(उसका) हृदय चितचोर (नायक) से उलझा हुआ है, दूसरी ओर गुरुजनों की भारी लज्जा है । अतः (दोनों ओर की खींचातानी में) हिंडोले पर चढ़े हुए हृदय से उसे गृह-कार्य करते बनता है ।

अलंकार—उपमा ।

[६७]

शब्दार्थ—पलकु=एक पल (क्षण भर) । पलौ=पल भर के लिए भी ।

भावार्थ—विरह विदग्धा नायिका की अनिद्रा दशा का वर्णन—

हे लाल ! कहो तो, तुम्हारे रूप की यह कैसी (विलक्षण) रीति है कि जिसमें एक क्षण भर के लिए भी नेत्र लगते हैं फिर पलभर भी पलक नहीं लगते हैं (अर्थात् क्षण भर के लिए भी नींद नहीं आती) ।

अलंकार—विरोधाभास ।

[६८]

शब्दार्थ—साँकर=जंजीर । कपाट=किवाड़ । बाट=मार्ग ।

भावार्थ—नायिका की स्वप्न-दशा का वर्णन—

(स्वप्न में प्रिय के दर्शन होते हैं किन्तु) जागकर जब मैं देखती हूँ तो किवाड़ों पर जंजीर उसी प्रकार लगी है (जैसी मैंने सोने से पूर्व लगाई थी) कौन जाने वे किस ओर होकर आते हैं तथा किस मार्ग से भाग जाते हैं ।

अलंकार—विभावना ।

[६९]

शब्दार्थ—हित=प्रेम । काक गोलकु=कौए के आँख की पुतली । प्रसिद्ध है कि कौए की आँख में एक ही गोलक होता है जो आवश्यकतानुसार दोनों आँखों में चला जाता है ।

भावार्थ—दम्पति के अनुपम प्रेम का वर्णन—

उन (दोनों) का अनुपम प्रेम उन्हीं से करते बनता है अन्य कोई अनेक उपाय करे पर वैसा प्रेम उससे न बन पड़ेगा। उनके देह तो देह हैं किन्तु उनमें जीवन उसी प्रकार से एक-एक है जैसे कौवे की दोनों आँखों में एक गोलक रहता है।

अलंकार—उपमा।

[७०]

शब्दार्थ—लगालगी=लागडाँट। लोयन=लोचन, नेत्र।

भावार्थ—इस प्रेम रूपी नगरी में कोई नीति (नियम, विधान) नहीं है। यहाँ कैसे बसें तथा कैसे निर्वाह करें। यहाँ नेत्र तो परस्पर लागडाँट करते हैं किन्तु मन व्यर्थ ही बाँध दिये जाते हैं। (अन्य स्थानों पर तो जो लाग डाँट करते हैं वे ही बन्दी बनाये जाते हैं किन्तु यहाँ लागडाँट करते हैं नेत्र और बँध जाते हैं मन)।

अलंकार—असंगति।

[७१]

शब्दार्थ—सगुनो=(१) गुणयुक्त (२) बत्ती सहित। सनेह=(१) प्रेम (२) तेल।

भावार्थ—दूती, नायिका को प्रेम की महत्ता समझाती हुई कहती है—

यद्यपि तुम्हारा दीपक रूपी शरीर (दीपशिखा के समान प्रकाशमान शरीर) सुन्दर, सुगठित तथा गुणयुक्त (शुभगुणयुक्त, बत्ती सहित) है तथापि इसमें प्रकाश उतना ही होगा जितना इसमें स्नेह (प्रेम, तेल) भरा जायगा।

अलंकार—श्लेष से पुष्टरूपक।

[७२]

शब्दार्थ—विषम संचार=अद्‌भुत गति।

भावार्थ—नेत्रों की अद्‌भुत गति का वर्णन—

हे सखी, इन नेत्र रूपी वाणों की गति अद्‌भुत है ये लगैं लगाऐं (जिसके लगे हैं तथा जिसके द्वारा लगाये गये हैं) दोनों पर समान रूप से सुमारु (अच्छी अर्थात् बुरा मार) करते हैं। (अन्य वाण तो जिसके लगते हैं उसी को घायल करते हैं किन्तु नैन-वाण मारने वाले को भी प्रभावित करते हैं, यही विचित्रता है)।

अलंकार—रूपक।

[७३]

शब्दार्थ—कुल-कथा=कुल की मर्यादा (लज्जाशील आदि)। ठिक=ठीक, उचित।

भावार्थ—सखी के उपदेश को सुनकर नायिका कहती है—

जब तक मैं उसकी (नायक की) ओर नहीं देखती हूँ तभी तक कुल की मर्यादा उचित ठहरती है किन्तु देखने पर तो देखते ही बनता है फिर किसी प्रकार रहा नहीं जाता।

अलंकार—अत्युक्ति।

[७४]

शब्दार्थ—चितुबितु=चित्त रूपी वित्त (धन)। बरजोर=बलवान्। बटपरा =बटमार, ठग।

भावार्थ—पूर्वानुरागिनी नायिका अपनी सखी से कहती है—(हे सखी !) चित्तरूपी धन बचने नहीं पाता। प्रिय के नेत्र बड़े बलवान् हैं वे उसे हठपूर्वक हर लेते हैं। ये सचेत जनों के लिए बटमार तथा जागने वालों के लिए चोर हैं। (डाकू और चोर तो असावधान एवं सोए हुए लोगों का ही धन हरते हैं किन्तु नेत्र सजग एवं जाग्रत जनों के चित्त को हर लेते हैं।)

अलंकार—विभावना।

कविवर भिखारीदास जी कहते हैं—

लाल तिहारे दृगनु की हाल कहीं नहिं जाइ।
सावधान रहिए तऊ चित बित लेत चुराइ।

[७५]

शब्दार्थ—साँवरे गात=कृष्ण, प्रियतम। अली=सखी।

भावार्थ—नायिका उत्सुकतापूर्वक प्रिय का वृतान्त पूछती है—

(नायिका) पुनः पुनः (दूती से) पूछती है कि बतला तो, प्रियतम ने मुझसे क्या कहा, तूने उनको क्या करते देखा तथा हे सखी! (मेरी) वार्ता किस प्रकार चली।

[७६]

शब्दार्थ—चिलक=चमक। चटक=चटकीलापन, चंचलता। लफति= लचकती हुई। सटक=बेंस, पतली लचकीली छड़ी।

भावार्थ—नायक अपने चित्त पर नायिका के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहता है—चमक, चिकनाहट, चंचलतापूर्वक बेंत के समान लचकती हुई सलोनी साँवली नारी (नायिका) नागिन के समान डस जाती है।

अलंकार—उपमा।

[७७]

शब्दार्थ—पानि=पाणि, हाथ।

भावार्थ—नायक अपने अन्तरंग सखा से कहता है—स्नेह, संकोच (लज्जा),

सुख (हर्ष), पसीने, कंप तथा मुस्कान सहित मेरे प्राणों को अपने हाथ में करके उसने मेरे हाथ में पान रखे।

विशेष—इस दोहे में श्रृंगार रस के सभी अवयवों यथा स्थायी भाव 'स्नेह,' विभाव 'नायक-नायिका', कायिक अनुभाव 'मुसकानि', सात्विक अनुभाव 'स्वेद कंप' तथा संचारी भाव 'हर्ष' और क्रीड़ा का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

अलंकार—यमक एवं परिवृत्त।

[७८]

शब्दार्थ—उरबसी=उर्वशी, प्रसिद्ध अप्सरा। उरबसी=हृदय पर पहनने का आभूषण विशेष।

भावार्थ—हे चतुर राधे ! सुन, (तू इतनी सुन्दर है कि) तुझ पर उर्वशी को न्यौछावर कर दूँ तू श्रीकृष्ण के हृदय में उरबसी आभूषण के समान बसती है।

अलंकार—यमक।

[७९]

शब्दार्थ—कौतुक=तमाशा। टटिया=बाँस की फट्टियों से बनी दीवार।

भावार्थ—परकीया नायिका द्वारा नायक को देखने का वर्णन—(यदि) कुछ तमाशा देखना चाहो तो इधर दृष्टि लगाकर देखो। (वह तुम्हें देखने के लिए) टटिया को उँगलियों से फाड़कर वह कब से टकटकी लगाकर डटी हुई है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

[८०]

शब्दार्थ—कैवा=कितनी वार। पत्याइ=विश्वास। लाई=लगाई। लाय=अग्नि।

भावार्थ—पूर्वानुराग में व्यथित नायिका को सखी समझाती है—मैंने तुझसे कितनी बार कहा कि तू इन नेत्रों का विश्वास न करना (पर तूने मेरी बात न मानी, जिसका परिणाम यह निकला कि) नेत्रों ने लगालगी (मेल मिलाप) करके हृदय में आग लगा दी।

अलंकार—असंगति।

[८१]

शब्दार्थ—अचकाँ=अचानक।

भावार्थ—नायिका की विरह दशा का वर्णन—यदि आप उसके (नायिका के) तन की दशा देखना चाहते हैं तो मैं बलिहारी जाती हूँ आप अचानक चुप-

चाप चलकर देख लीजिए। अचानक चुपचाप इसलिए कि यदि उसे आपके आगमन की जानकारी हो गयी तो उसके हृदय में प्रसन्नता की लहर दौड़ जायेगी। अतः आपको उसकी वास्तविक अवस्था का भान न हो सकेगा।

इस प्रसंग से उर्दू का निम्नलिखित शेर द्रष्टव्य है—

उनके देखे से मुँह पे आ जाती है जो रौनक।
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

अलंकार—सम्भावना।

[८२]

शब्दार्थ—ईस = ईश, स्वामी। असीस = आशीर्वाद।

भावार्थ—सखी नायक के पास आकर नायिका का विरह निवेदन करती है—हे प्राणेश हरि! मैं उसकी दशा क्या कहूँ (वह अवर्णनीय है)। उसे विरह की ज्वाला में जलते हुए देखकर मर जाना उसके लिए आशीर्वाद के समान हो गया है।

अलंकार—लेश।

[८३]

शब्दार्थ—छामु = क्षाम, क्षीण। नाँदि = चैतन्य होना।

भावार्थ—हे कृष्ण! विरह के कारण उसका शरीर इतना क्षीण हो गया है कि अब वह जरा भी जानी नहीं जाती (दिखायी नहीं पड़ती)। तुम्हारा नाम लेने से वह दीपक की भाँति चैतन्य हो उठती है (तभी उसे देखा जा सकता है)।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[८४].

शब्दार्थ—लड़ैते = लाड़ले अथवा लड़ने वाले। बेहाल = बेसुध।

भावार्थ—नायिका के दृष्टि-निक्षेप से घायल नायक का वर्णन—(हे सखी! तूने अपने) नेत्र ऐसे लड़ैते (लाड़ले अथवा लड़ने वाले) क्या कर रखे हैं कि (जिनकी चोट खाकर) लाल बेसुध पड़े हुए हैं। कहीं उनकी मुरली पड़ी है, कहीं पीताम्बर, कहीं मुकुट और कहीं फूलों की माला।

अलंकार—व्याजस्तुति।

[८५]

शब्दार्थ—कोरि = करोड़। चीकनो = स्निग्ध, अनुरक्त।

भावार्थ—लक्षिता नायिका से सखी कहती है—तुम चाहे करोड़ यत्न करो तब भी नायक के प्रति तुम्हारा जो प्रेम है वह छिपेगा नहीं। तुम्हारे हृदय की स्निग्धता (स्नेह) का परिचय तुम्हारे नेत्रों की नवीन (बनावटी) रुखाई ही दे रही है।

अलंकार—विभावना।

[८६]

शब्दार्थ—बाल=बाला, युवती।

भावार्थ—नायक द्वारा प्रेषित माला पहनने से नायिका के रोमांच का वर्णन–हे बाला ! मैंने ऐसी अमूर्त भक्ति तुझी में देखी कि प्रसाद की माला प्राप्त करके तेरा शरीर कदम्ब की माला हो गया (अर्थात् रोमांचित हो गया)।

अलंकार—धर्म-वाचक लुप्तोपमा।

[८७]

शब्दार्थ—चितै=देख। मयूख=किरण।

भावार्थ—नायक की सखी मानिनी नायिका से कहती है—(हे लाड़िली !) चित्त देकर (ध्यान पूर्वक) चकोर की ओर देखो भूख लगने पर भी वह तीसरे को नहीं भजता या तो वह अंगारे की चिनगियाँ चुनता है अथवा चन्द्रकिरणों का पान करता है।

विशेष—इस दोहे का अर्थ अन्योक्तिपरक भी हो सकता है।

[८८]

शब्दार्थ—अचल=जड़वत्।

भावार्थ—प्रिय दर्शन के समय नायिका की जड़ दशा का वर्णन—(हे सखी !) तू जड़वत् हो रही है। मानो चित्रलिखित सी हो। लज्जा और लोक भय को त्याग कर बता तो तू किसको देख रही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[८९]

शब्दार्थ—बिजना=पंखा। बाय=वायु, हवा।

भावार्थ—(हे प्रिय !) प्रेमपूर्वक तुमने जो पंखा भेजा था, उसकी हवा लगने से (उसके) तन की तपन तो टली (दूर हुई) किन्तु वह पसीने से भी नहा चली।

विशेष—प्रिय के पंखे के कारण हर्ष संचारी स्वेद सात्विक भाव।

अलंकार—विभावना।

[९०]

शब्दार्थ—दबै नहीं=छिपता नहीं। चढ़ाएँ त्यौर=त्यौरी चढ़ाना, क्रुद्ध होना।

भावार्थ—आकृति लक्षिता नायिका से सखी कहती है—(हे सखी !) नायक का नाम सुनते ही तेरा तन-मन और ही (आनन्दातिरेक से पूरित) हो गया। वह तेरे चित्त पर चढ़ा हुआ है, त्यौरी चढ़ाने से छिपेगा नहीं।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति।

[९१]

शब्दार्थ—उझकि=उचक कर। रिझावनहार=रिझाने वाला।

भावार्थ—सखी नायिका से कहती है—मुझे भरोसा (विश्वास) है, तू एक बार (झरोखे से) उचक कर तो देख। वह अपने रूप से रिझाने वाला (लुभाने वाला) है और तेरे ये नेत्र रीझने वाले (गुण ग्राहक) हैं।

अलंकार—सम।

[९२]

शब्दार्थ—कालबूत=मेहराब बनाने के लिए रखा जाने वाला कच्चा भराव।

भावार्थ—दूती के माहात्म्य का वर्णन—पहले तो कालबूत रूपी दूती के बिना प्रेम का लदाव (छत) बनता नहीं है किन्तु उसके पक्के हो जाने के अनन्तर उसे टालते ही बनता है।

अलंकार—रूपक।

[९३]

शब्दार्थ—पटु=वस्त्र। दुरै=छिपे।

भावार्थ—कृष्णाभिसारिका नायिका का वर्णन करती हुई कोई सखी दूसरी सखी से कहती है—अँधेरी रात्रि में नीला वस्त्र पहनकर (वह) प्रियतम के घर की ओर चली जा रही है किन्तु यह तो बता कि दीपशिखा के समान (प्रकाशमान) देह भला छिपाने से छिप कैसे सकती है।

अलंकार—उपमा तथा विशेषोक्ति।

[९४]

शब्दार्थ—जोन्ह=चाँदनी। सोंधे=सुगन्ध। डोरैं=डोरे से, आश्रय से। अली=सखी, भ्रमर।

भावार्थ—शुक्लाभिसारिका नायिका का वर्णन—वह युवती (नायिका) (गौर वर्ण के कारण) चाँदनी में ऐसी मिल गयी कि जरा भी दिखायी नहीं पड़ती। अंगों की सुगन्धि के आश्रय से सखी (भ्रमर के समान) उसके साथ चली जा रही है।

अलंकार—उन्मीलित।

[९५]

शब्दार्थ—जाँचकु=यावक, भिक्षुक। सूम=कृपण, कंजूस। बैंन=वचन।

भावार्थ—दोनों (नायक तथा नायिका) चाह से भरे हुए कुछ कहना चाहते हैं पर कहते नहीं। उनके वचन बाहर नहीं निकलते जैसे याचक (आया है यह) सुनकर कृपण बाहर नहीं निकलता।

अलंकार—पूर्णोपमा।

[९६]

शब्दार्थ—अमिलु=जिनसे मेल नहीं है, अपरिचित।

भावार्थ—क्रिया विदग्धा नायिका का वर्णन—(वह) नायक को देखकर हर्षित तो हुई किन्तु अपरिचित जनों का साथ देखकर आँखों-आँखों में ही हँस-कर उसने अपना हाथ हृदय पर रखकर सिर पर रखा।

विशेष—लाला भगवान दीन ने नायिका की इस क्रिया में निम्नलिखित भाव प्रदर्शित किये हैं—

१. हृदय में बसते हो, प्रणाम करती हूँ।

२. शिव की शपथ, अर्द्धरात्रि को मिलूँगी।

३. दोनों पर्वतों के बीच वाली कुंज में कृष्ण पक्ष की द्वितीया को मिलूँगी।

४. यमुना तट पर शिवालय में मिलूँगी।

५. प्रतिज्ञा स्मरण है, सूर्यास्त बाद मिलूँगी। —**बिहारी बोधिनी**

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर का विचार है—

सिर पर हाथ रखने से यह व्यंजित किया कि तुमने जो चेष्टा द्वारा मिलने की प्रार्थना की, वह शिरोधार्य है; पर इस सुख की प्राप्ति भाग्य के हाथ है।

—**बिहारी रत्नाकर**

अलंकार—सूक्ष्म।

[९७]

शब्दार्थ—मिहचत=मीचना, बन्द करना। पानि-परस=कर-स्पर्श।

भावार्थ—आँख मिचौनी का वर्णन—प्रियतम के नेत्र मीचने पर नायिका के कर-स्पर्श का सुख प्राप्त करके, पहचान लेने पर भी नायक अनजान की भाँति अभिनय करने लगता है और (सही बात को) जरा भी प्रकट नहीं करता।

विशेष—आँख मिचौनी के खेल में कोई व्यक्ति पीछे से आकर आँखों पर हाथ रखकर बन्द कर देता है और पहचान लिये जाने पर आँखें खोल देता है। किन्तु यहाँ नायक कर-स्पर्श के सुख के कारण नायिका को पहचान कर भी अन-जान बना रहता है।

अलंकार—उपमा और पर्यायोक्ति।

[९८]

शब्दार्थ—मुँदरी=मुद्रिका, अंगूठी। आरसी=दर्पण। प्यी=प्रिय।

भावार्थ—हाथ की मुद्रिका के दर्पण में प्रिय के प्रतिबिम्ब को पाकर पीठ फेर कर बैठी हुई भी वह बेधड़क एकटक दृष्टि लगाकर (प्रिय को) देख रही है।

[९९]

शब्दार्थ—बतरस=बातचीत का आनन्द। नटि जार=नाहीं कर देती है।

भावार्थ—बातचीत का आनन्द (वचन-विनोद) के लालच से राधा ने प्रिय कृष्ण की मुरली छिपाकर रख दी। (इस पर श्री कृष्ण) शपथ दिलाते हैं तो राधा भौहों में हँस देती है (जिससे श्रीकृष्ण को उन पर सन्देह बना रहे) किन्तु जब वे (मुरली) देने के लिए कहते हैं तो 'नाहीं' कर देती है (मना कर देती है)।

अलंकार—दीपक।

[१००]

शब्दार्थ—घरीकु=एक घड़ी। निवारियै=निवारण (व्यतीत) कर लीजिए। कलित=विभूषित।

भावार्थ—वन विहार के समय नायिका वचन-चातुरी से अपना अभिप्राय व्यक्त करती है—(हे प्रिय ! धूप बहुत कड़ी है अतः) एक घड़ी धूप का निवारण यहीं कर लीजिए; यमुना के तट पर जहाँ तमाल वृक्ष से मिला हुआ (सटा हुआ) सुन्दर भ्रमरों से विभूषित (आच्छादित) मालती कुँज है।

अलंकार—पर्यायोक्ति।

[१०१]

शब्दार्थ—कनीनिकनु=आँख की पुतली। धनी=धन्या (सपत्नी)। सिर-ताज=शिरोमणि। धनी=पति (नायक)। छनीं=आच्छादित, लिपटी हुई।

भावार्थ—नायिका की आभायुक्त पुतलियों का वर्णन—(हे सखी !) और ही (विशेष प्रकार की) आभायुक्त पुतलियों के कारण तू सपत्नियों में शिरोमणि गिनी गयी है। (तेरे नेत्रों की ये पुतलियाँ) लज्जा रूपी वस्त्र में लिपटी हुई पति के स्नेह की मणियाँ (पति के प्रेम से पूरित) बन गयी हैं।

[१०२]

शब्दार्थ—लोइन-कोइनु=नेत्रों के कोए। छाँह=छाया।

भावार्थ—शठ नायक खंडिता नायिका के प्रश्न करने से पूर्व ही उसका ध्यान बँटाने के लिए उससे प्रश्न करने लगता है इस पर वह विदग्धतापूर्ण उत्तर देती है— नायक का प्रश्न है—

हे बाला ! तुम्हारे नेत्रों में यह लाली क्यों हो आयी है (क्या तुम रात भर जागती रही हो) (इस पर नायिका का उत्तर है) हे प्रिय ! मेरी आँखों में तुम्हारी आँखों की छाया पड़ गयी है (अर्थात् तुम्हीं कहीं रात्रि भर जागते रहे हो)।

अलंकार—गूढ़ोत्तर।

[१०३]

शब्दार्थ—सलोने=(१) सुन्दर (२) नमकीन। सनेह=(१) प्रेम

(२) तेल। सूरन=जमीकंद, कांदू (तेल में खूब पकाए जाने पर तथा नमक ठीक होने पर भी यदि यह जरा सा भी कच्चा रह जाता है तो मुँह में कनकनाहट उत्पन्न कर देता है)।

भावार्थ—खंडिता नायिका नायक से कहती है—हे लाल ! तुम सुन्दर तथा अत्यधिक स्नेह से पूरित हो तथापि तुम्हारे प्रेम का तनिक सा कच्चापन (परस्त्री के फेर में पड़ जाना) तेल में भुने तथा नमकीन जरा कच्चे (रह जाने वाले) सूरन की भाँति मुँह को काटने वाला अर्थात् दुखदायी है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट पूर्णोपमा।

[१०४]

शब्दार्थ—सुमनु= (१) सुन्दर मन (२) फूल। सफलु=(१) पूर्णकाय, सफल (२) फलयुक्त। बारी=युवती। बारी=वाटिका। बारि=जल।

भावार्थ—मानिनी नायिका की सखी उसे समझाती है—हे युवती (भोली नारी) इनसे जो तेरा सुन्दर मन लगा है, इसमें तुझे सफलता प्राप्त होगी। तू क्रोध रूपी धूप को दूर कर और अपनी प्रेम रूपी वाटिका को सुहृदयता (सानुकूलता) रूपी जल से सींच।

अलंकार—यमक।

[१०५]

शब्दार्थ—बदनु=मुख। रोज=रुदन।

भावार्थ—उत्तमा दूती मानवती नायिका से कहती है=हा हा (मैं प्रार्थना करती हूँ, तू) अपने मुख को उघाड़, जिससे सभी अपने नेत्रों को सफल करें। तेरे इस मुख के सामने कमलों के घर रोना पड़ जायेगा और चन्द्रमा का उपहास होगा।

अलंकार—प्रतीप।

[१०६]

शब्दार्थ—गहिली=बावली। माह=माघ मास।

भावार्थ—सखी मानवती नायिका को समझाती है—हे बावली सुहाग का समय प्राप्त करके गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि जो स्त्री जेठ में (युवावस्था में) छाया के समान जीवनदायिनी है वही माघ में (ढलती हुई अवस्था में) अच्छी नहीं लगती।

अलंकार—दृष्टान्त।

[१०७]

शब्दार्थ—आरसी=बड़ी अँगूठी जिसमें दर्पण लगा रहता है। बाय=नारी, नायिका।

भावार्थ—क्रियाविदग्धा नायिका का वर्णन—नायिका को गुरुजनों के मध्य देखकर कृष्ण (नायक) ने अपना सिर कमल से छुवाया । (उधर) नायिका ने भी अपनी आरसी कृष्ण के सम्मुख करके अपने हृदय से लगा ली। नायक ने संकेत में कहा था कि मैं तुम्हारे कमलवत् चरणों पर अपना सिर रखता हूँ। नायिका ने भी संकेत में उत्तर दिया कि तुम मेरे दर्पणवत् स्वच्छ हृदय में बसते हो।

अलंकार—सूक्ष्म ।

[१०८]

भावार्थ—सखी नायिका को मान का उपदेश देती है। इस पर उसका उत्तर है— हे सखी ! तू भी कहती है और मैं भी सयानेपन की सभी बातें समझती हूँ पर मैं क्या करूँ, मोहन (नायक) को देख कर जो मेरा मन मेरे पास रहे तभी तो मैं उसमें मान रखूँ (अर्थात् कृष्ण को देखकर तो मेरा मन ही मेरे हाथ में नहीं रहता, मान का आधार ही अपने पास नहीं रहता)।

अलंकार—विशेषोक्ति ।

[१०९]

शब्दार्थ—सवारू = प्रातःकाल । रागु मलारू = मल्लार राग, प्रसिद्ध है कि इसके यथार्थ रूप में गाने से पानी बरसने लगता है।

भावार्थ—प्रवत्स्यपतिका नायिका नायक के परदेश गमन को रोकने का प्रयत्न करती है। इस पर कोई सखी कहती है—पूस के महीने में यह सुनकर कि प्रातःकाल ही स्वामी (पति) परदेश जाने वाले हैं, उस प्रवीण नारी ने हाथ में वीणा लेकर मल्लार राग अलापा (अकाल वृद्धि में यात्रा निषिद्ध मानी जाती है।)

विशेष—'प्रवीण' शब्द का अर्थ ही होता है वीणा बजाने में चतुर ।

अलंकार—पर्यायोक्ति ।

[११०]

शब्दार्थ—ईठि = इष्ट, (सखी)। गलगली = आँसुओं से भरी हुई ।

भावार्थ—हे सखी ! ललन (प्रियतम) का चलना (परदेश गमन) सुनकर वह चुप रही, कुछ बोल न सकी। उसकी वाणी इस प्रकार अवरुद्ध हो गयी मानो आँसुओं से भरी हुई दृष्टि ने भली-भाँति उसका गला दबाकर वाणी को रोक दिया हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

[१११]

शब्दार्थ—ज्यों = जीव । प्यौ = प्रियतम ।

भावार्थ—नायिका की व्याधि दशा का वर्णन—दुस्सह विरह के कारण उसकी दशा अत्यन्त दारुण (भयंकर) हो गयी है। अब कोई और उपाय नहीं रह गया है। उसके निकलते हुए प्राणों की रक्षा केवल प्रियतम (के आगमन) की चर्चा चलाकर ही की जा सकती है।

अलंकार—पर्यायोक्ति।

[११२]

शब्दार्थ—निरधार=निश्चय। नारी=(१) स्त्री (२) नाड़ी। निदानु=आदि कारण। वैदु=वैद्य।

भावार्थ—सखी के विरह के मूल कारण की ओर संकेत करती हुई दूसरी सखी कहती है—मैंने नारी (नायिका) के नाड़ी ज्ञान (हाथ की नाड़ी देखकर) से यह निश्चय कर लिया है कि वही (प्रियतम) इसका वैद्य, औषधि, रोग तथा निदान (सभी कुछ) है।

अलंकार—श्लेष, हेतु तथा रूपक।

[११३]

शब्दार्थ—जीगननु=जुगनू। डहि=दह कर, दुःख पाकर।

भावार्थ—विरहिणी की प्रलाप दशा का वर्णन—विरह से दग्ध (जली हुई) उस नायिका ने दुःख पाकर कितनी बार नहीं कहा (अर्थात् अनेक बार कहा) कि हे सखी भीतर मार्ग था। आज (जल की बूँदों के बदले) आकाश से अंगारे बरस रहे हैं।

अलंकार—भ्रांतिमान।

[११४]

शब्दार्थ—सीरैं=शीतल। जतननु=यत्नों (उपचार)।

भावार्थ—विरहिणी नायिका के अतिशय विरहताप का वर्णन—शीतल उपचारों द्वारा शिशिर ऋतु में तो किसी प्रकार विरहिणी के शरीर के ताप (गर्मी) को सह लिया परन्तु ग्रीष्म ऋतु में उस पड़ोसिन के पास रहना पाप ही हो गया है।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

[११५]

शब्दार्थ—आड़े दैं=ओट में करके। आले=गीले।

भावार्थ—नायिका के विरह-ताप का वर्णन करती हुई सखी नायक से कहती है—(उसके दुःसह विरह ताप के कारण) जाड़े की रात में भी गीले

वस्त्रों की ओट करके साहस कर कर के स्नेह के वशीभूत होने के कारण, सखियाँ उसके पास जाती हैं।

अलंकार—अत्युक्ति।

[११६]

शब्दार्थ—लुवैं=ग्रीष्म की गर्म हवाएँ। बाम=नारी।

भावार्थ—किसी पथिक के मुख से यह सुनकर कि माघ मास की रात्रि में भी उस ग्राम में लुएँ चलती हैं बिना पूछें तथा बिना कहे ही यह समझ लिया कि (मेरी) बेचारी स्त्री अभी जीवित है। (नायिका के विरह-ताप से ग्राम भर की वायु के गर्म होने का संकेत है)।

अलंकार—अनुमान।

[११७]

भावार्थ—विरह के कारण नायिका की अतिशय कृशता एवं उच्छ्वासों का वर्णन करती हुई सखी कहती है—(वह नायिका) छह सात हाथ के लगभग इधर आती है और उधर चली जाती है। इस प्रकार उच्छ्वासें लेती हुई वह हिंडोले पर चढ़ी हुई सी प्रतीत होती है।

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा।

[११८]

शब्दार्थ—मीड़े=मसले हुए। नीठि=कठिनाई से।

भावार्थ—नायिका की व्याधि दशा का वर्णन करती हुई सखी कहती है—हाथ से मसले हुए फूल की भाँति वह विरह से ऐसी कुम्हला गयी है कि सदैव समीप रहने वाली सखियों के द्वारा भी कठिनाई से पहचानी जाती है।

अलंकार—उपमा तथा अतिशयोक्ति।

[११९]

शब्दार्थ—सरसै=बढ़ती है। झर=झड़ी। झार=ज्वाला।

भावार्थ—सखी नायक से नायिका का विरह निवदेन करती है—हे लाल! तुम्हारे विरह की अग्नि बड़ी विचित्र तथा अपार (अनन्त) है जो जल बरसने से बढ़ती है और आँसुओं की झड़ी लगाने से भी इसकी ज्वाला शान्त नहीं होती। मिर्जा गालिब का शेर है—

इश्क वह आतिश है ये 'गालिब',
जो लगाये न लगे औ बुझाए न बुझे।

अलंकार—विभावना एवं विशेषोक्ति।

[१२०]

शब्दार्थ—लाइ=अग्नि। बात=(१) वार्त्ता, चर्चा (२) वायु।

भावार्थ—विरहिणी नायिका के सम्बन्ध में एक सखी दूसरी से कहती है–इसके हृदय में विरह की कुछ और ही (विचित्र) अग्नि लगी हुई है जो गुलाब जल छिड़कने से प्रज्ज्वलित होती है तथा प्रिय की वार्त्ता रूपी वायु से शान्त हो जाती है। (सामान्य अग्नि जल से शान्त होती तथा वायु से भड़कती है।)

अलंकार—भड़कातिशयोक्ति तथा विभावना।

[१२१]

शब्दार्थ—गुड़ी=पतंग। उड़ायक=उड़ाने वाला।

भावार्थ—नायक अथवा नायिक ने परदेश से पत्रिका लिखी है—यदि (हम इस समय) बिछुड़ गये हैं तो क्या हुआ, मेरा मन तो तुम्हारे मन के साथ है। जिस प्रकार पतंग उड़कर कहीं भी चली जाये किन्तु वह (डोर के माध्यम से) उड़ाने वाले के हाथ में रहती है।

अलंकार—दृष्टान्त।

[१२२]

शब्दार्थ—सुधि=स्मरण। सुधि=चेतना। आँख लगना=नींद आना।

भावार्थ—वियोगिनी नायिका सखी से अपनी दशा का वर्णन करती है—जब-जब उनका (नायक का) स्मरण करती है तब-तब मेरी सारी चेतनाएँ (सुध-बुध) खो जाती हैं। जब मेरे नेत्र उनके नेत्रों से लग जाते हैं तब फिर नींद नहीं आती।

अलंकार—यमक तथा विरोधाभास।

[१२३]

शब्दार्थ—सुरति=स्मृति। नाह=नाथ। बदाबदी=शर्त बाँधकर, खुल्लम खुल्ला। बदराह=कुमार्गगामी।

भावार्थ—प्रोषितपतिका नायिका अपनी सखी से कहती है—कौन सुने और मैं किससे जाकर कहूँ प्रिय ने मेरी स्मृति बिसार (भुला) दी है। ये कुमार्गगामी (वक्रगति) बादल खुल्लम-खुल्ला मेरे प्राण ले रहे हैं।

विशेष—बादल 'जीवन दायक' कहे जाते हैं 'घनआनन्द जीवन दायक हो' किन्तु वे नायिका के जीवन को हरने वाले हो गये हैं।

अलंकार—यमक तथा परिकर।

[१२४]

शब्दार्थ—बिनसतु=नष्ट होते हुए। नगु=स्त्री रूपी रत्न। सुदरसनु=(१) सुन्दर दर्शन (२) एक चूर्ण जो विषम ज्वर के रोगी को दिया जाता है।

भावार्थ--नायिका की सखी नायक से निवेदन करती है—इस विनष्ट

होते हुए स्त्री रूपी रत्न की रक्षा करके संसार में बड़ा यश प्राप्त कीजिए। वह भयंकर ज्वर (वियोग-ज्वर) से पीड़ित है आप आकर उसे सुन्दर दर्शन रूपी सुदर्शन चूर्ण दीजिए।

अलंकार—श्लेष।

[१२५]

शब्दार्थ—संसौ=संशय। हंसौ=प्राण रूपी हंस पक्षी। मीचु=मृत्यु। सचानु=बाज पक्षी।

भावार्थ—सखी नायक से विरहाग्नि में जलती हुई नायिका की दशा का वर्णन करती है—(विरह के कारण वह मृत्यु के निकट पहुँच गयी है) मुझे नित्य ही संशय रहता है (कि वह अब मरी) किन्तु उसका प्राण रूपी हंस बच जाता है। मेरा तो यह अनुमान है कि विरह की अग्नि की लपटों के कारण मृत्यु रूपी बाज पक्षी उस पर झपट नहीं सकता।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट रूपक।

[१२६]

शब्दार्थ—गैल=मार्ग। चखनु=चक्षु, नेत्र। मीचु=मृत्यु।

भावार्थ—विरह में अतिशय कृशता का वर्णन—विरह ने उसे इतना दुर्बल बना दिया है तो भी नीच (विरह) उसके घर की गैल (मार्ग) नहीं छोड़ता। मृत्यु चाहने पर भी तथा नेत्रों पर चश्मा लगाकर भी (अतिशय कृशता के कारण) उसे प्राप्त नहीं कर पाती है।

अलंकार—अत्युक्ति।

[१२७]

शब्दार्थ—सीतकर=शीतल किरणों वाला।

भावार्थ—विरह व्यथिता नायिका का कथन—मैं ही विरह के वशीभूत होने के कारण बावली हो रही हूँ अथवा सम्पूर्ण ग्राम (ग्राम के निवासी) ही बावला हो गया है। (पता नहीं) क्या जानकर ये लोग चन्द्रमा को शीत कर (शीतल किरणों वाला) कहते हैं। (मेरे लिये तो यह जलाने वाला ही सिद्ध हो रहा है)

अलंकार—सन्देह।

जायसी की नागमती कहती है—

सब कहँ चन्द भएउ मोहिं राहू।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी चन्द्रमा के लिए कहते हैं—

विष संजुत कर निकर पसारी। जारत विरहवन्त नर नारी॥

[१२८]

शब्दार्थ—कौड़ा=कपर्द, बड़ी कौड़ी। कसि=कसकर। साँकर=शृंखला, जंजीर। मलिग=मुसलमानों के फकीर विशेष, जो कौड़ों की लड़ों तथा लोहे की जंजीरों से अपने शरीर कसे रहते हैं।

भावार्थ—उसके (नायिका के) दृग रूपी मलिग अश्रुविन्दु रूपी कौड़ों तथा सजल बरौनी रूपी जंजीरों से कसे हुए (निरन्तर कुछ बड़बड़ाने अथवा जपने के कारण) अपना मुख खोले रहते हैं।

विशेष—यह वर्णन नायिका की मरण दशा के निकट है।

अलंकार—रूपक।

[१२९]

शब्दार्थ—तच्यौ=तप्त।

भावार्थ—नायिका के अश्रुपात का वर्णन—(नायिका का) जो हृदय प्रेम-रस से भीगा हुआ था वह अब विरह की आँच से तप्त (गर्म एवं दुखी) हो रहा है। अतः हृदय पसीज पसीज कर आँखों के मार्ग से जल के रूप में प्रवाहित हो रहा है।

विशेष—इस दोहे में अर्क खींचने की प्रक्रिया की ओर संकेत है।

[१३०]

शब्दार्थ—असोस=अशोष्य, कभी न सूखने वाली। नैं=नदी। बार=द्वार।

भावार्थ—उद्धव जी भगवान कृष्ण से कहते हैं—गोपियों के आँसुओं से भरी हुई अशोष्य नदी गली-गली में घर-घर के द्वार पर प्रवाहित हो रही है। (अर्थात् गोपियाँ आपके विरह में निरन्तर अश्रु बहा रही हैं।)

अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा।

[१३१]

शब्दार्थ—सर-पंजर=वाणों का पिंजड़ा।

भावार्थ—(हे सखी!) वनों उपवनों में प्रत्येक दिशा में फूल खिले हुए दिखायी पड़ते हैं। (ऐसा प्रतीत होता है) मानो ऋतुराज वसन्त ने वियोगियों (को दण्डित करने) के लिए वाणों का पिंजड़ा बनाया है। (वसन्त में खिले हुए फूलों को देखकर वियोगी-जन उसी प्रकार दुखी हो जाते हैं जिस प्रकार शर पंजर में पड़ा हुआ योद्धा।)

अलंकार—वस्तूत्प्रेक्षा।

[१३२]

शब्दार्थ—अवधि=अन्तिम सीमा। पंचाली=द्रौपदी।

भावार्थ—विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है—(हे सखी !) मेरा विरह द्रौपदी की साड़ी के समान बढ़ता ही जाता है। अवधि रूपी दुःशासन वीर उसे खींच रहा) है किन्तु वह उसका अन्त नहीं पाता।

अलंकार—रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा।

[१३३]

शब्दार्थ—जल-थम्भ-विधि=ऐसा 'प्रयोग' जिससे जल के प्रभाव का स्तम्भन हो जाये। ताल=सरोवर।

भावार्थ—नायिका ने नायक को पत्र लिखा है—हे लाल ! (ऐसा प्रतीत होता है कि) तुम दुर्योधन की भाँति जल स्तम्भन का 'प्रयोग' जानते हो (तभी तो) वियोग रूपी व्यथा-जल के रहते हुए भी तुम मेरे हृदय सरोवर में बसे हुए हो।

विशेष—प्रसिद्ध है कि दुर्योधन को जल स्तम्भन का प्रयोग सिद्ध था जिसके प्रभाव से वह सरोवर के अन्दर छिपा रहता था।

अलंकार—रूपक से पुष्ट पूर्णोपमा।

[१३४]

भावार्थ—विरह-व्यथिता नायिका नायक के प्रति निवेदन करती है—(कम्प, स्वेड, अश्रु के कारण अपना वृतान्त) कागज पर लिखते नहीं बनता। मुख से सन्देश कहते हुए लज्जा आती है। तुम्हारा हृदय ही मेरे हृदय की सारी बात कह देगा (तुम उसी से पूछ कर देख लो।)

अलंकार—विरोधाभास।

[१३५]

शब्दार्थ—आँक बिहूनीयौ=अक्षर रहित। सूनैं=एकान्त में।

भावार्थ—नायक और नायिका की विरह-विकलता का वर्णन—विरह-विकल नायिका ने बिना ही लिखी (कोरी) पत्रिका (प्रियतम के पास) भेज दी। (उधर नायक भी) अंकविहीन (अक्षर रहित) होने पर भी उसे एकान्त में जाकर बाँचता है। (विरह में दोनों ही जैसे विवेक खो बैठे हैं।)

अलंकार—विभावना।

[१३६]

शब्दार्थ—झरसी=झुलसी हुई। गरी=गली हुई।

भावार्थ—(प्रियतम ने) नीचे से झुलसी हुई, ऊपर से (अश्रुजल के कारण) गली हुई तथा काजल मुक्त (अश्रु) जल से छिड़की हुई (नायिका की) पत्रिका को प्रिय ने बिना लिखी हुई होने पर भी (नायिका की) विरह व्यथा को बाँच लिया (अर्थात् पीड़ा का अनुमान का लिया)।

अलंकार—अनुमान तथा विभावना।

[१३७]

शब्दार्थ—फटक=स्पन्दन, फड़कन। उछाह=उत्साह। दुकूल=वस्त्र, साड़ी आदि।

भावार्थ—(जिसके पति शीघ्र ही आने वाले हैं ऐसी आगमिष्यति पतिका) मृगनयनी नायिका अपने नेत्रों की फड़कन, हृदय के उत्साह तथा तन (उरोजों आदि) में उभार आने के कारण, प्रियतम के बिना आए ही उमंग में भर कर अपने वस्त्रों को बदलने लगी।

अलंकार—अनुमान।

[१३८]

शब्दार्थ—बाँह=वाहु, भुजा।

भावार्थ—बायीं भुजा के पकड़ने से पति के आगमन का संकेत मिलता है अतः नायिका कहती है—हे मेरी बायीं भुजा तेरे भड़कने से यदि मुझे जीवन मूल (प्राणों के आधार प्रिय) कृष्ण मिलेंगे तो मैं दाहिनी भुजा को दूर रखकर तेरे द्वारा ही उनसे भेंटूँगी (आलिंगन करूँगी।)

अलंकार—सम्भावना।

[१३९]

शब्दार्थ—छकि=तृप्त होकर। सौरभ=सुगंधि। झौंरत=मँडराते। झँपत=झपकी लेना। झौंर=समूह।

भावार्थ—वसन्त की मादकता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—आय (मंजरी) की सुगन्धि से तृप्त होकर तथा माधवी लता की मधुर गन्ध से सिक्त भ्रमरों का समूह स्थान-स्थान पर मँडराता हुआ झपकियाँ ले रहा है।

विशेष—इसका संकेत किसी मानवती नायिका के प्रति भी माना जा सकता है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

[१४०]

शब्दार्थ—समुद्री=सामने ही। दवागि=दावाग्नि।

भावार्थ—(वसन्त ऋतु में) नवीन पथिक पलाश वन को फूला हुआ देखकर उसे सामने ही दावाग्नि समझकर चकित हृदय होकर अपने घर की ओर लौट रहे हैं।

विशेष—यात्रा में आग का सामने आना अपशकुन माना जाता है।

अलंकार—भ्रान्तिमान।

[१४१]

शब्दार्थ—पावक=अग्नि। उसास=उच्छ्वास।

भावार्थ—विरहिणी नायिका अथवा कवि का कथन है—चारों तोर ये प्रबल अग्नि के समान लुएँ नहीं चल रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो वसन्त के विरह में ग्रीष्म उच्छ्वासें ले रहा है।

विशेष—प्रकृति में मानव-चेतना का आरोप किया गया है।

अलंकार—अपह्नुति तथा उत्प्रेक्षा।

[१४२]

शब्दार्थ—कहलाने—कातर, व्याकुल। अहि—सर्प। दाघ=दाहक, ताप। निदाघ=ग्रीष्म ऋतु।

भावार्थ—(परस्पर वैर-भाव को भूलकर) सर्प तथा मोर मृग तथा बाघ (गर्मी से) व्याकुल होने के कारण एक स्थान पर बैठे हुए हैं। ग्रीष्म के भयंकर ताप ने संसार को तपोवन बना दिया है।

विशेष—तपोवन में सभी जीव अपने बैरभाव को भूल जाते हैं। इधर गर्मी की भयंकरता के कारण भी पशु वैर-भाव को भूल गये हैं।

अलंकार—उपमा।

[१४३]

शब्दार्थ—पैठि=प्रविष्ट होकर। सदन-तन=शरीर रूपी घर, शरीर रूपी तना।

भावार्थ—ज्येष्ठ मास की भयंकर धूप का वर्णन—जेठ मास की दोपहर (में धूप की प्रचण्डता) को देखकर छाया भी छाया चाहती है। तभी तो वह घने वन में बैठ रही है तथा शरीर रूपी घर (अथवा शरीर रूपी तने) में प्रविष्ट हो रही है।

विशेष—ज्येष्ठ मास में मध्याह्न के समय सूर्य ठीक सिर के ऊपर आ जाता है अतः वृक्षों की छाया ठीक उनके नीचे पड़ती है।

अलंकार—रूपक।

[१४४]

शब्दार्थ—पावस=वर्षा। द्यौस=दिवस, दिन।

भावार्थ—वर्षा ऋतु में घने अन्धकार का वर्णन—वर्षा-ऋतु में बादलों के घने अन्धकार के कारण पृथ्वी पर (रात और दिन में) भेद नहीं रह गया है। रात और दिन की जानकारी चकई चकवों को देखकर होती है।

विशेष—कवि प्रसिद्धि के अनुसार चकई चकवे दिन में एकत्र तथा रात्रि में एक दूसरे से दूर रहते हैं।

अलंकार—उन्मीलित।

[१४५]

शब्दार्थ—पावक-झर=आग की लपट। मेर-झर=मेघ की झड़ी।

भावार्थ—विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है—आग की लपट की अपेक्षा मेघ की झड़ी अधिक जलाने वाली तथा विशेष असहनीय है क्योंकि उसके (आग की लपट) तो स्पर्श से देह जलती है किन्तु इसके (मेघ की झड़ी) तो देखने पर ही शरीर जलने लगता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

[१४६]

घुरवा

शब्दार्थ—धुखा=बादल। कोद=दिशा। पयोद=बादल।

भावार्थ—बादलों को देखकर विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है—(हे सखी!) ये बादल नहीं है बल्कि पृथ्वी पर चारों दिशाओं से धुँआ उठ रहा है। (ऐसा प्रतीत होता है कि) वर्षा ऋतु के प्रथम बादल संसार को जलाते हुए चले आ रहे हैं।

अलंकार—अपह्नुति।

[१४७]

शब्दार्थ—हठ=मान। हठीली=मानिनी। आन=अन्य। गाँठि=ग्रन्थि। घुटि जात=कड़ी हो जाती है।

भावार्थ—मानिनी नायिका से सखी कहती है—हे सखी! वर्षा ऋतु को प्राप्त करके मानिनी भी मान नहीं कर सकती। वर्षा ऋतु में अन्य (वस्तुओं यथा—सन, मूँज, सूत आदि की रस्सियों की) गाँठें तो कड़ी पड़ जाती हैं किन्तु मान (के कारण पड़ी हुई) गाँठ छुट जाती है (खुल जाती है)।

अलंकार—काव्यलिंग।

[१४८]

शब्दार्थ—बामा=स्त्री, वात्र का अर्थ उल्टा होने के कारण बामा का अर्थ कुटिल भी होता है। भामा=मान में रोष करने वाली। कामिनी=कामवती।

भावार्थ—वर्षा ऋतु में बाहर जाने वाले नायक के प्रति नायिका का कथन है—हे प्राणेश! आप मुझे बामा, भामा तथा कामिनी कहकर सम्बोधित कीजिए। वर्षा ऋतु में विदेश गमन करते समय 'प्यारी' कहते हुए आपको लज्जा नहीं आती।

अलंकार—परिकरांकुर।

[१४९]

शब्दार्थ—सुचैनो=सुन्दर चैन। सूर=शूर, वीर। नरनाह=राजा।

भावार्थ—(शरद ऋतु के आगमन पर) बादलों का घेरा छूट गया। हर्षित होकर चारों ओर के मार्ग खुल गये (वर्षा ऋतु में जो मार्ग अवरुद्ध हो गये थे उन पर आवागमन आरम्भ हो गया)। शरदरूपी शूरवीर राजा ने संसार में आकर सुचैन (सुन्दर व्यवस्था) कर दिया।

अलंकार—रूपक।

[१५०]

शब्दार्थ—विभावरी=रात्रि। ओक=गृह। कोक=चकवा पक्षी।

भावार्थ—हेमन्त ऋतु में जैसे-जैसे रात्रि बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे घर-घर में लोगों को सुख तथा चकवे का शोक अपार मात्रा में बढ़ता जाता है।

विशेष—कवि प्रसिद्धि के अनुसार चकवा चकवी रात्रि में बिछुड़े रहते हैं।

अलंकार—दीपक।

[१५१]

शब्दार्थ—जिते=जितने। अजेय=अपराजेय। कुसुमसर=कामदेव।

भावार्थ—अगहन मास ने, जितने भी अपराजेय प्राणी थे, सबको जीत लिया है। वह कामदेव को (फूलों के) धनुष-बाण हाथ में लेने का अवसर ही नहीं देता। (कामदेव के बिना प्रयास के ही लोग काम से पीड़ित हैं)।

अलंकार—काव्यलिंग तथा विभावना।

[१५२]

शब्दार्थ—सियरानु=शीतल हो गया। मान=(१) परिमाण (२) प्रतिष्ठा।

भावार्थ—पूस मास के शीत से आक्रान्त तथा छोटे होते हुए दिन का वर्णन करते हुए कवि कहता है— पूस के महीने में दिन का मान (परिमाण) उसी प्रकार घट गया है जिस प्रकार ससुराल में रहने वाले दामाद का मान (प्रतिष्ठा) घट जाता है। उसके आने जाने का कुछ भी पता नहीं चलता। वह अपने तेज (उष्णता, ओप) को छोड़कर शीतल (ठण्डा, नम्र) हो जाता है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट पूर्णोपमा।

[१५३]

शब्दार्थ—सुभग=सुन्दर, कोमल। अवगाहि=प्राप्त करके। सूर तन=सूर्य की ओर।

भावार्थ—माघ मास में प्रखर ताप रहित सुखदायक सूर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—सुन्दर, शीतल किरणों के लगने से रात्रि का सुख दिन में ही प्राप्त करके, माघ मास में चन्द्रमा के भ्रम से चकोरी सूर्य की ओर देखा करती है।

अलंकार—भ्रान्तिमान।

[१५४]

शब्दार्थ—रनित=झंकार करता हुआ। दा=हाथी का मद। कुंजरू=हाथी।

भावार्थ—कुंजों में मन्द गति से प्रवाहित होने वाले समीर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है–भ्रमर रूपी घण्टावली की झंकार करता हुआ तथा मधु-जल रूपी मद झरता (टपकाता) हुआ कुंज-समीर रूपी हाथी मन्द-मन्द (गति से) चला आ रहा है।

अलंकार—रूपक।

[१५५]

शब्दार्थ—सेद=स्वेद, पसीना। बिरमाइ=विराम करके, विश्राम करके। बटोही=पथिक। बाइ=वायु।

भावार्थ—शीतल, मन्द, सुगन्ध दक्षिण पवन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—मकरन्द कण रूपी पसीना (पसीने की बूँदें) टपकाता हुआ, एक एक वृक्ष के नीचे विश्राम करता हुआ, थका हुआ वायु रूपी वटोही दक्षिण देश (दिशा) से चला आ रहा है।

अलंकार—रूपक।

[१५६]

शब्दार्थ—पुहुप-पराग-पट=पुष्पों का पराग रूपी वस्त्र। नवाढ़े=नव-विवाहिता वधू।

भावार्थ—वासन्ती पवन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—पुष्प-पराग रूपी वस्त्र में लिपटी हुई, मकरन्द रूपी पसीने से युक्त सुखद मन्द गति वायु नवविवाहिता वधू के समान चली आ रही है।

विशेष—इस दोहे में वायु को स्त्रीलिंग में माना गया है जबकि उपर्युक्त दोहा सं. १५५ में इसका प्रयोग पुल्लिग में हुआ है।

अलंकार—रूपक तथा उपमा।

[१५७]

शब्दार्थ—साँकरैं=संकीर्ण, सँकरे। झाँझि=झंझट। झकुरातु=झकोर लेता, झूमता हुआ। मारुत-तुरँगु=पवन रूपी घोड़ा। खूँदतु=खंदता हुआ; उछल कूद करता हुआ।

भावार्थ—संकरे कुंज-मार्गों में रुकता हुआ, झंझट करता हुआ, उछल कूद करता हुआ पवन रूपी घोड़ा मन्द-मन्द गति से आ रहा है।

अलंकार—रूपक।

[१५८]

शब्दार्थ—डटि=रुककर। मिसि=बहाने से। परनामु=प्रणाम।

भावार्थ—(क्रियाविदग्धा नायिका ने) नहाकर वस्त्र पहन कर थोड़ा रुक कर (माथे पर) बेंदी लगाने के बहाने से प्रणाम किया तथा नेत्रों का संकेत करके श्रीकृष्ण को विदा करके घर की ओर चली गयी।

अलंकार—पर्यायोक्ति तथा सूक्ष्म।

[१५९]

शब्दार्थ—तन्त्रीनाद=वीणा के स्वर। रति-रंग=प्रेम रंग। बूड़े=डूबे, निमग्न। सब अंग=सर्वांग, पूर्ण रूप से।

भावार्थ—वीणा आदि वाद्य-यन्त्रों के स्वर, काव्य रस, सरस राग तथा प्रेमरंग में जो अनबूड़े (आधे डूबे) रहे वे बूड़े (डूब गये) किन्तु जो इनमें पूर्ण रूप से डूबे (निमग्न हुए) वे तर गये।

विशेष—संगीत, काव्य आदि ललित कलाओं के मर्म को जानने के लिए पूर्ण रूपेण उनमें निमग्न होने की आवश्यकता है।

अलंकार—विरोधाभास।

[१६०]

शब्दार्थ—पगारु=खाई या गड्ढा।

भावार्थ—प्रेम के तत्व को भावुक जन ही जान सकते हैं अरसिक नहीं। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कवि कहता है—पर्वत से भी ऊँचे हजारों रसिकों के मन जिस प्रेम रूपी सागर में डूब गये वहीं नर पशुओं (अरसिकों) के लिए खाई के समान है।

अलंकार—रूपक।

[१६१]

शब्दार्थ—चटक=चमक। वरु=भले ही। चोल=मँजीठ।

भावार्थ—सज्जनों के प्रेम की प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है—सज्जनों का गम्भीर प्रेम मंजीठ रंग में रंगे वस्त्र के समान होता है जो घटने पर भी अपनी चमक नहीं छोड़ता, वह फट भले ही जाए किन्तु फीका नहीं पड़ता।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा।

[१६२]

शब्दार्थ—हुलसे=उल्लसित, प्रसन्न। पोतु=स्वभाव, प्रकृति।

भावार्थ—नीच व्यक्तियों के हृदय (अपमानित होने पर भी) उल्लसित रहते हैं। वे गेंद की प्रकृति को धारण किये रहते हैं। जैसे-जैसे उनके माथे पर

चोट की जाती है (वे निरादृत होते हैं) वैसे-वैसे ऊँचे होते हैं (अपना मस्तक ऊँचा करते अर्थात् अपने आप को श्रेष्ठ मानते हैं)।

[१६३]

शब्दार्थ—दयायौ=नगाड़ा।

भावार्थ—छोटे व्यक्तियों द्वारा बड़े आदमियों के काम कैसे हो सकते हैं? भला कहो तो चूहे की चमड़ी से दमामा क्यों कर मढ़ा जा सकता है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

[१६४]

शब्दार्थ—कोरि=कोटि, करोड़। प्रकृतिहि=स्वभाव में। बीच=अन्तर।

भावार्थ—चाहे कोई करोड़ यत्न करे व्यक्ति के स्वभाव में अन्तर नहीं पड़ता। नल के बल से जल ऊपर चढ़ता है किन्तु फिर अन्ततः नीचे की ओर गिरता है। (अपना निम्नगामी स्वभाव नहीं छोड़ता)।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

[१६५]

शब्दार्थ—धनु-मनि-मुत्तिय-माल=धन, मणि तथा मोतियों की माला। भाल=लालट, मस्तक।

भावार्थ—राजा जयसिंह की दानशीलता की प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है—गुणी हो अथवा निर्गुणी (मूर्ख), महाराज जयसिंह से धन, मणि और मोतियों की माला को अवश्य प्राप्त करता है। आवश्यकता इस बात की है कि उसके मस्तक पर जयसिंह से भेंट होने का भाग्य चाहिए। (अर्थात् धन, मणि तथा मोतियों की माला प्राप्त करने के लिए जयसिंह के दर्शन मात्र पर्याप्त हैं)।

अलंकार—वक्रोक्ति तथा तुल्योगिता।

[१६६]

शब्दार्थ—दीपति=दीप्तमान करती है। दरपन धाम=शीशमहल। काम व्यूह=काम का व्यूह।

भावार्थ—राजा जयसिंह के रूप की प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है—राजा जयसिंह के शरीर की आभा प्रतिबिम्बिप होकर शीशमहल में देदीप्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कामदेव ने संसार भर को जीतने के लिए काया का व्यूह (अनेक रूप) बनाया हो।

विशेष—शीशमहल में शीशों में बिम्ब प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण एक व्यक्ति के अगणित श्रेणीबद्ध रूप दिखायी पड़ते हैं।

[१६७]

शब्दार्थ—दुसह=असह्य । दुराज=द्वैतशासन । दंद=द्वंद्व । मावस=अमावस्या ।

भावार्थ—द्वैत शासन-प्रणाली के अवगुणों की ओर संकेत करता हुआ कवि कहता है—एक ही प्रदेश में दो राजाओं का राज्य असह्य होता है । उसमें प्रजा का दुख द्वन्द्व क्यों न बढ़े (बढ़ना ही चाहिए) अमावस्या की रात्रि में सूर्य और चन्द्रमा मिलकर (एक राशि पर होने के कारण) संसार में अधिक अँधेरा (घोर अन्धकार) कर देते हैं ।

अलंकार—पूर्णोपमा ।

[१६८]

शब्दार्थ—खोटे ग्रह=हानिकारक ग्रह ।

भावार्थ—(संसार में) जिसके तन में बुराई बसती है, उसी का आदर होता है जैसे भले ग्रह (मंगल आदि) को तो भला कहकर छोड़ दिया जाता है किन्तु खोटे ग्रह (शनि आदि की शान्ति) के लिए जप, दान आदि किये जाते हैं ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

[१६९]

शब्दार्थ—विरद=यश । कनक—(१) धतूरा (२) सोना ।

भावार्थ—व्यक्ति नाम से नहीं वरन् अपने कार्यों से बड़ा बनता है इस तथ्य की ओर संकेत करता हुआ कवि कहता है—गुणों के बिना मात्र यश और बड़ाई प्राप्त कर लेने से कोई बड़ा नहीं हो सकता । जैसे धतूरे को भी कनक कहते हैं किन्तु उससे गहना नहीं बन सकता ।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास ।

[१७०]

शब्दार्थ—गुनी=गुणवान् । निर्गुनी=गुणहीन । तरु अर्क=आक का पेड़ । अर्क=सूर्य ।

भावार्थ—सबके गुणी-गुणी कहने से गुणहीन व्यक्ति गुणवान् नहीं हो जाता । क्या (किसी ने) आक के पेड़ को सूर्य के समान प्रकाशित होते हुए सुना है ?

अलंकार—अर्थान्तरन्यास ।

[१७१]

शब्दार्थ—धंध=झंझट, कार्य ।

भावार्थ—कुमति के झंझट में फँसे हुए लोग सत्संगति मिलने पर भी सुबुद्धि प्राप्त नहीं कर पाते । जैसे हींग को यदि कपूर के साथ मिलाकर रखो तो भी उसमें सुगन्ध नहीं आती ।

अलंकार—दृष्टान्त तथा अतद्गुण ।

[१७२]

शब्दार्थ—मित्त=मित्रता । रज राजसु=रजोगुण (क्रोध) रूपी धूलि। नेह=प्रेम, तेल ।

भावार्थ—यदि (तुम) चाहते हो कि मित्रता की चमक न घटे और उसमें मलिनता न आए तो अपने हृदय को रजोगुण रूपी धूलि से न छुवाओ बल्कि उसे प्रेम रूप तेल से स्निग्ध रखो ।

अलंकार—रूपक ।

[१७३]

शब्दार्थ—अगाध=अथाह । ओथरौ=उथला । कूप=कुँआ सर=सरोवर । वाय=वाणी, बावली ।

भावार्थ—वस्तु की उपयोगिता के आधार पर कवि कहता है—नदी, कूप, सरोवर तथा बावली (का जल) अत्यन्त अथाह हो अथवा उथला, परन्तु उसके लिए वहीं सागर है जहाँ जिसकी प्यास बुझे ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

[१७४]

शब्दार्थ—कनक=सोना । कनक=धतूरा ।

भावार्थ—धतूरे की अपेक्षा सोने (धन सम्पत्ति) में मादक बनाने की सौगुनी अधिक शक्ति है क्योंकि उस धतूरे को तो खाने पर (आदमी) बावला होता है किन्तु इस सोने को तो प्राप्त करके ही बावला (उन्मुक्त) हो जाता है ।

अलंकार—यमक तथा व्यतिरेक ।

[१७५]

शब्दार्थ—अपत=पत्र रहित ।

भावार्थ—किसी विगत यौवन नायिका अथवा विगत वैभव पुरुष को लक्षित करके, उसके प्रेमी अथवा मित्र के प्रति कही गयी उक्ति है—हे भ्रमर जिन दिनों तुमने वे फूल देखे थे वह बहार (वसन्त ऋतु) बीत गयी है अब तो गुलाब में केवल पत्र रहित डालियाँ ही रह गयी हैं ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

[१७६]

शब्दार्थ—अटक्यौ रह्यौ=अटका रहा ।

भावार्थ—विगत वैभव गुणी व्यक्ति का साथ न छोड़ने वाले मित्र के प्रति

कवि कहता है—भ्रमर गुलाब की जड़ से इस आशा में अटका रहा कि बसन्त ऋतु में इन डालों में पुनः वे ही फूल आयेंगे।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१७७]

शब्दार्थ—लखैं=देखने पर भी। दई=दैव।

भावार्थ—बड़े व्यक्तियों की बड़ी भूल देखकर भी उनसे कौन कह सकता है (अर्थात् कोई कुछ नहीं कह सकता) देखो, दैव ने गुलाब की इन (कँटीली सूखी) डालों में वे (कोमल सुन्दर) फूल लगा दिये हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१७८]

शब्दार्थ—नागर=चतुर, नगर निवासी। आव=ओप, चमक।

भावार्थ—मूर्खों के बीच में फँसे किसी गुणी व्यक्ति का निरादर देखकर कवि कहता है—हे गुलाब ! यहाँ वे बड़े चतुर नगर निवासी (गुणग्राहक) नहीं हैं जो तुम्हारी ओप (चमक, गुण) का आदर कर सकें। इस गँवई गाँव में फूला हुआ गुलाब अनफूले (बिना फूले) के समान ही हुआ।

अलंकार—अन्योक्ति तथा विरोधाभास।

[१७९]

शब्दार्थ—सराहि-सराहना (प्रशंसा) करके। गंधी=गन्ध (इत्र) बेचने वाला।

भावार्थ—किसी गुणी व्यक्ति को मूर्खों के बीच अपने गुणों का विस्तार करते हुए देखकर कवि कहता है—हे अन्धे (मतिहीन) गंधी ! इस गाँव में तेरे गुलाब (गुलाब जल) का ग्राहक कौन है ? ये तुम्हारे गुलाब जल को हाथ में लेकर, सूँघकर, उसकी सराहना करके (खरीदने के नाम पर) मौन हो गये हैं। (वास्तव में इनमें कोई भी गुण ग्राहक नहीं हैं)।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१८०] पुष्प-रज, फूल के भीतर की धूल

शब्दार्थ—पराग=~~सौरभ~~। अली=भ्रमर, मित्र। हवाल=दशा।

भावार्थ—मुग्धा नायिका में आसक्त नायक के प्रति कवि कहता है—न तो अभी इसमें पराग आया है, न मधुर मकरन्द और न ही अभी इसका पूर्ण विकास हुआ है। हे भ्रमर ! तू कलिका से ही बँध रहा है आगे चलकर तेरी क्या दशा होगी।

विशेष—प्रसिद्ध है कि यह दोहा महाराज जयसिंह को लक्ष्य करके लिखा गया था।

[१८१]

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य कार्य। बिहंग=पक्षी (बाज)। पानि=पाणि, हाथ।

भावार्थ—किसी दुष्ट स्वामी के सेवक को उसके स्वार्थपूर्ति हेतु स्वजनों पर अत्याचार करते हुए सेवक कोई व्यक्ति कहता है—हे बाज ! दूसरे के हाथ में पड़ कर तू पक्षियों को मत मार क्योंकि इससे न तो तेरा कोई स्वार्थ सिद्ध होता है, न यह कोई पुण्य कार्य है इसमें तुझे व्यर्थ का श्रम उठाना पड़ता है, तू इस पर विचार करके देख।

विशेष—मुगल सम्राट शाहजहाँ के प्रति राजा जयसिंह की स्वामी भक्ति प्रसिद्ध है। उसके संकेत पर वे हिन्दू राजाओं से युद्ध करते थे। अतः कहा जाता है कि यह दोहा बाज के रूप में उन्हीं को लक्ष्य करके लिखा गया है।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१८२]

शब्दार्थ—सुआ=शुक, तोता। बोलियतु=बुलाया जाता है। बाइसु=वायस, कौवा।

भावार्थ—समय के फेर (चक्र) से तोता पिंजड़े में पड़ा हुआ प्यास से मरता है और बलि के समय (श्राद्ध पक्ष में) आदरपूर्वक कौवे को बुलाया जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१८३]

शब्दार्थ—पावस=वर्षा ऋतु। ऋतुराज=वसन्त। अपतु=(१) पत्ररहित (२) निरादर।

भावार्थ—धनी व्यक्ति से लाभ की इच्छा वाले व्यक्ति के प्रति कोई कहता है—हे तरुवर ! तू चित्त को भूल (भ्रम) को त्याग दे यह वर्षा ऋतु नहीं, बल्कि वसन्त है जिसमें पत्ररहित (निरादृत) हुए बिना तू नये पत्ते, फल तथा फूल कैसे पा सकता है ?

विशेष—वर्षा में बिना पत्ते गिरे वृक्ष में नये पत्ते निकल आते हैं जबकि वसन्त में पत्ते झड़ने के पश्चात ही नवीन पत्ते निकलते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१८४]

शब्दार्थ—मूर=मूल्य। पीनस=नासिका का एक रोग जिसमें गंध का अनुभव समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—यदि पीनस के रोगी कपूर को शोरा समझ कर त्याग दें तो इसमें उसकी शीतलता एवं सुगन्ध की महिमा एवं मूल्य नहीं घटता।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१८५]

शब्दार्थ—पुर=नगर। ओड़=गधों पर सामान ढोने वाले।

भावार्थ—किसी गुणी व्यक्ति को अयोग्य व्यक्तियों के बीच अपने गुणों का असफल प्रयास करते देखकर कोई कहता है—चलो आओ, यहाँ हाथियों का व्यापार कौन करता है। तुम नहीं जानते इस नगर में तो धोबी, ओड़ और कुम्हार वसते हैं (जिन्हें हाथियों की नहीं अपितु गधों की आवश्यकता है)।

अलंकार—अन्योक्ति।

[१८६]

शब्दार्थ—जम-करि=यमराज रूपी हाथी। तरहरि=नीचे। धर=धारण करके (निश्चय पूर्वक)। परिहरि=त्याग कर। नरहरि=(१) नरसिंह भगवान (२) बिहारी के गुरु का नाम।

भावार्थ—आत्म-बोध के रूप में कवि कहता है—तुम यमराज रूपी हाथी के मुख के नीचे पड़े हुए हो यह निश्चयपूर्वक जानकर भगवान में अपना चित्त लगाओ। विषय-वासना की तृष्णा को त्यागकर आज भी नरहरि के गुणों का गान करो।

अलंकार—रूपक।

[१८७]

शब्दार्थ—जनायो=जानने का विषय बनाया।

भावार्थ—जिस (भगवान) ने सम्पूर्ण संसार को जनाया (इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय बनाया) उस भगवान को तूने नहीं जाना जैसे आँखों से सब कुछ देखा जाता है किन्तु वे स्वयं नहीं देखी जा सकतीं।

विशेष—ब्रह्म अगोचर है।

अलंकार—उदाहरण।

[१८८]

शब्दार्थ—छापैं=तप्त मुद्रा की छाप। सरै न=सिद्ध नहीं होता। रांचै=रंजित होना, प्रसन्न होना।

भावार्थ—बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए कवि कहता है—जप की माला फेरने, तप्त मुद्रा की छाप लगवाने तथा तिलक लगाने से एक भी कार्य सिद्ध नहीं होता। कच्चा मन (इनके चक्र में पड़कर) व्यर्थ ही नाचता है राम तो सत्याचरण से ही प्रसन्न होते हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

[१८६]

शब्दार्थ—निरधार=निश्चयपूर्वक।

भावार्थ—मैंने निश्चयपूर्वक समझ लिया कि यह संसार कच्चे काँच के समान है जिसमें एक ही (भगवान का) रूप अनन्त रूपों में प्रतिबिम्बित दिखायी पड़ता है।

विशेष—इस दोहे में भारतीय वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का निदर्शन हुआ है जिसके अनुसार इस संसार में सभी वस्तुओं में ब्रह्म व्याप्त है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

मीर दर्द कहते हैं—

"जग में आकर इधर उधर देखा।
तू ही आया नजर जिधर देखा॥"

अलंकार—उपमा।

[१९०]

शब्दार्थ—मनमोहन=कृष्ण। घनस्यामु=कृष्ण। कुंजविहारी=कृष्ण। गिरधारी=कृष्ण।

भावार्थ—कवि स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहता है—तू मन को मोहित करने वाले कृष्ण से मोह (प्रेम) कर, बादलों के समान श्यामल कृष्ण को देख, कुंजों में विहार करने वाले कृष्ण के साथ विवाह कर तथा पर्वत को धारण करने वाले कृष्ण को हृदय में धारण कर।

विशेष—कृष्ण के विभिन्न नामों का सार्थक प्रयोग किया गया है।

अलंकार—परिकरांकुर।

[१९१]

शब्दार्थ—मन-सदन=मन रूपी घर। बाट=मार्ग। निपट=बिल्कुल पूर्णतः। कपट-कपाट=कपट रूपी किवाड़।

भावार्थ—कवि कहता है—तब तक इस मन रूपी घर में भगवान किस मार्ग से आ सकते हैं जब तक इसके द्वार पर जड़े हुए भयंकर कपट रूपी किवाड़ पूर्णतः नहीं खुलते। (भगवान निष्कपट भक्त जनों के हृदय में ही निवास करते हैं)।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

निर्मल जन मन सो मोहि पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥

अलंकार—सांगरूपक।

[१९२]

शब्दार्थ—भजन=भजन करना। भज्यौ=भागा। भज्यौ न=भजन नहीं किया। भजन=भागना।

भावार्थ—कवि अपने मन को समझाते हुए कहता है—हे गँवार मन ? मैंने तुझसे जिसका भजन करने के लिए कहा उसका तूने एक बार भी भजन नहीं किया तथा जिससे दूर भागने के लिए कहा उसी का तूने भजन किया (आराधना की)।

अलंकार—यमक।

[१९३]

शब्दार्थ—पीठि दै=मुख मोड़कर। गुन=(१) गुण (२) डोरी। चंग रंग =पतंग के समान।

भावार्थ—कवि निर्गुण ब्रह्म का समर्थन करते हुए कहता है—भगवान पतंग के समान हैं जो गुणों का विस्तार करने से (सगुण रूप में) मुख मोड़कर दूर भागते हैं जैसे पतंग की डोर बड़ाने से वह दूर होती चली जाती है और निर्गुण रूप में वे निकट ही प्रकट होते हैं जिस प्रकार पतंग की डोर खींच कर कम करने से वह पास आती जाती है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट उपमा।

[१९४]

शब्दार्थ—नीकी=भली। अनाकनी=टालमटूल। गुहारि=पुकार। बारक =एक बार। बारन=हाथी।

भावार्थ—भगवान के प्रति भक्त का उपालम्भ—हे भगवान ! आपने अच्छी टालमटूल की (आपको आवाज लगाते लगाते) मेरी पुकार फीकी (थकित) पड़ गयी। ऐसा प्रतीत होता है मानो एक बार हाथी को तार कर आपने तारने का विरह ही त्याग दिया है।

विशेष—ग्राह से गज के उद्धार की पौराणिक कथा की ओर संकेत किया गया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

[१९५]

शब्दार्थ—तूठे=सन्तुष्ट।

भावार्थ—भगवान के प्रति भक्त का उपालम्भ—हे रघुराज ! आप किस दीन के वन्धु हुए हैं ? आपने किसको तारा (उद्धार किया) है ? झूठा विरह धारण करके आप वड़े सन्तुष्ट हुए फिरते हैं।

अलंकार—काकु वक्रोक्ति।

[१९६]

शब्दार्थ—बानि=स्वभाव ।

भावार्थ—भगवान के प्रति भक्त का उपालम्भ—हे कृष्ण ! आप (भक्त के) थोड़े से गुणों पर ही प्रसन्न हो जाते थे, वह स्वभाव आपने भुला दिया (त्याग दिया)। ऐसा प्रतीत होता है कि आप भी आजकल के दानी हो गये हैं। (अनेक गुणों के पश्चात भी जिनका प्रसन्न होना बड़ा कठिन है)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

[१९७]

शब्दार्थ—मोषु=मोक्ष । तोषु=सन्तोष। गुननु=(१) गुणों से (२) डोर।

भावार्थ—भक्त भगवान से प्रार्थना करता है—हे भगवान ! मुझे भी मोक्ष दीजिए जहाँ कि आपने अनेक अधर्मी (पापियों) को दिया है। यदि आपको मुझे बाँधने में ही सन्तोष हो तो अपने गुणों की डोर से बाँधिए ।

विशेष—गुणों में बाँधने से सगुणोपासना का संकेत मिलता है ।

अलंकार—श्लेष ।

[१९८]

शब्दार्थ—चाल—कर्म ।

भावार्थ—भक्त भगवान से कहता है—हे हरि ! मैं अपने कर्मों से जैसा होऊँगा वैसा होऊँगा (कर्मानुसार फल पाऊँगा) हे गोपाल ! आप हठ न कीजिए मेरा तारना (संसार-सागर से उद्धार) अत्यन्त कठिन है (मेरे अपने कार्य तो ऐसे हैं नहीं जिनके आधार पर मेरा उद्धार हो सके आपकी कृपा हो जाए तो और बात है)।

अलंकार—सम।

[१९९]

शब्दार्थ—कुबतु=निन्दा । त्रिभंगी लाल=तीन स्थानों पर भंगिमायुक्त ।

भावार्थ—हे दीन दयाल ! संसार भले ही मेरी निन्दा करे तथापि मैं कुटिलता नहीं त्यागूंगा । सरल हृदय में बढ़ते हुए तुम्हें दुख होगा क्योंकि तुम त्रिभंगी लाल हो । स

विशेष—मुरली बजाते समय भगवान कृष्ण के शरीर में गर्दन, कमर तथा पैरों में कुछ तिरछा पन आ जाता है यही उनकी त्रिभंगी मुद्रा कहलाती है ।

अलंकार—सम ।

[२००]

शब्दार्थ—जदुराज=यदुराज, कृष्ण ।

भावार्थ—हे यदुराज ! अब मुझ में और आप में बहस बढ़ गयी है देखिए (हम दोनों में) कौन जीतता है। हम दोनों ही अपने अपने विरद की लज्जा का निर्वाह कर रहे हैं। (मैं पापी हूँ और आप पतित-पावन, यही हम दोनों का विरद है। मैं तो पापों से विरक्त हो नहीं सकता, देखता हूँ आप अपने पतित पावन विरद का निर्वाह कहाँ तक करते हैं।)

अलंकार--वक्रोक्ति।

(२०१)

शब्दार्थ—प्रसाद=कृपा। सवाद=स्वाद, रस।

भावार्थ—ग्रन्थ की समाप्ति पर कवि ग्रन्थ के प्रेरक अपने आश्रयदाता राजा जयसिंह तथा भगवान की कृपा का उल्लेख करता हुआ कहता है—मिर्जा राजा जयसिंह की आज्ञा प्राप्त कर, श्रीकृष्ण और राधा की कृपा से बिहारी लाल ने इस सतसई की रचना की, जो अनेक रसों से भरी हुई है।

संकलित दोहों की अकारादि क्रम-सूची

	सतसई सार	बिहारी रत्नाकर	बिहारी बोधिनी
		दोहा संख्या	
अ			
अंग अंग नग	४६	६९	१४७
अंग अंग प्रतिबिंबु	४८	६८०	१५३
अजौं तर्‌यौना	४२	२०	१४२
अति अगाधु	१७३	४११	६४५
अधर धरत	९	४२०	२३
अनियारे दीरघ	२९	५८८	८१
अपने अंग	१२	२	२९
अत्रि इन लोइन	७२	४५०	२२९
आ			
आड़े दै आले	११५	२८३	४९७
आवत जात न	१५२	१७१	५८३
इ			
इक भीजैं	११	४६१	२८
इत आवति	११७	३१७	४९९
इत तैं उत	६३	२०६	१९८
इन दुखिया	२५	६६३	२४८
इहि आसा अटक्यौ	१७६	४३७	६५६
उ			
उनकौ हितु	६९	४४७	२१४
उर उरुझ्यौ	६६	५५४	२०५

	सतसई सार	बिहारी रत्नाकर	बिहारी बोधिनी
	दोहा संख्या		
द			
दिसि दिसि कुसुमित	१३१	४७६	५२८
दुरत न कुच	३८	१८८	११४
दुसह दुराज	१६७	३५७	६३२
दुसह विरह दारुन	११	६६६	४८५
दूरि भजत प्रभु	१९३	४२८	६८८
दृग उरझत	६०	३६३	१९२
देखत कछु कौतुक	७९	६३४	२७०
देखौं जागत	६८	५४५	३२५
ध			
धुखा होहिं न	१४६	५४६	५७२
न			
नख सिख रूप	२७	१५८	२३८
नहिं परागु	१८३	४७४	६७०
नाउँ सुनत ही	९०	५९९	३०२
नाचि अचानक	६	४६९	११
नहिन ए पावक	१४१	४८८	५६४
नित प्रति एकत	५	२३८	६
नित संसौ हंसौ	१२५	१२४	५१५
निसि अँधियारी	९४	२०७	३१२
नीकी दई अनाकनी	१९४	११	६९१
नीच हियैं हुलसे	१६२	४९१	६२३
नेहैं न नैनन कौं	२१	३७	१७८
नैंक न जानी	८३	१६०	२४०
न्हाइ पहिरि	१५८	७००	६०४
प			
पत्रा ही तिथि	३५	७३	६०४
पहिरत ही गौरें	४५	५१३	१४४

	सतसई सार	बिहारी रत्नाकर	बिहारी बोधिनी
		दोहा संख्या	
पहिरि न भूषन	३९	३३५	११६
पाइ महावरु दैन	३७	३५	१०९
पावक झर तैं	१४५	४०२	५७०
पावस घन	१४४	४८६	५६८
पिय कैं ध्यान	६५	५८३	२०२
पूस मास सुनि	१०९	१४६	४७७
प्रतिबिंबित जयसाहि	१६६	१६७	६३१
प्रीतम दृग	९७	४२२	३५२
फ			
फिरि घर कौं	१४०	५९७	५६२
फिरि फिरि बूझत	७५	२१९	२४२
ब			
बंधु भए का	१९५	६१	६९४
बड़े न हूजै	१६९	१९१	६३५
बतरस लालच	९९	४७२	३५६
बसैं बुराई जासु	१६८	३८१	६३३
बहके सब जिय	२३	९	२४५
बाम बाहु	१३८	५७२	५४४
बामा भामा	१४८	७०३	५७६
बाल कहा लाली	१०२	१६८	३८६
बिरह जरी लखि	११३	५९६	४९२
बिरह विकल	१३५	५२६	५३९
बिरह बिथा	१३३	४१४	५३५
बुधि अनुमान	१९०	६४८	६८२
बेसरि मोती दुति	३१	१७३	८८
बेसरि मोती धनि	३२	७६	९०
बैठि रही अति	१४३	५२	५६६

	सतसई सार	बिहारी रत्नाकर	बिहारी बोधिनी
		दोहा संख्या	
भ			
भजन कह्यौ	१६२	३७१	६८५
भूषन भारु सँभारि	५०	३२२	१५६
म			
मंगल बिंदु सुरंगु	४३	४२	१२४
मकराकृति गोपाल	७	१०३	१६
मरतु प्यास	१८२	४३५	६६८
मानहु बिधितन	४०	४१३	११७
मृगनैनी दृग	१३७	२२२	५४३
मेरी भव बाधा	१	१	१
मैं तोसौं कै वा	८०	६६	२७४
मैं यह तोही	८६	४७०	२६३
मैं लखि नारी-ज्ञान	११२	५५७	४८८
मैं समुझ्यौ	१८६	१८१	६८१
मोहिं तुम्हैं बाढ़ी	२००	४२७	७०४
मोहिं भरोसौ	६२	६८२	३०६
मोहूँ दीजै मोषु	१६७	२६१	७००
य			
यह बिनसतु	१२४	१२०	५१४
या अनुरागी चित्त	५७	१२१	१८३
याकैं उर औरै	१२०	४८	५०७
र			
रंच न लखियतु	४६	६६५	११५
रनित भृंग	१५४	३८८	५६०
रही अचल सी	८८	५३३	२६७
रह्यौ ऐंचि	१३२	४००	५३४
रुक्यौ साँकरैं	१५७	६८४	५६४